HINDII

ÁNANDA-MÁRGA

आनन्द-मार्ग

PRAVAKTÁ ◻ PRAVARTAKA

SHRII SHRII ÁNANDAMÚRTIJII

Price Rs 2/- only
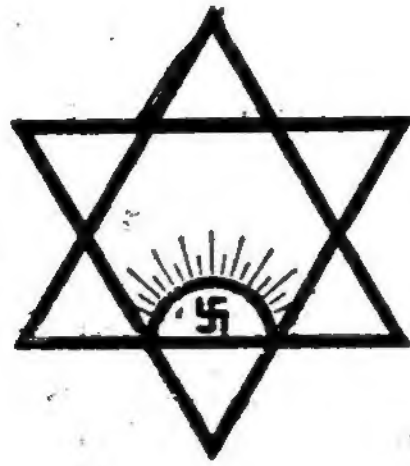
आनन्द-मार्ग

प्रवक्ता व प्रवर्त्तक

श्री श्री आनन्दमूर्त्ति जी

लेखक व संकलक

श्री शिवशंकर बन्द्योपाध्याय ।

अनुवादक

श्री चन्द्रनाथ कुँवर

द्वितीय संस्करण

मूल्य दो रुपया ।

द्वितीय संशोधित संस्करण ता: श्रावणी पूर्णिमा १९५६ साल

आनन्द मार्ग प्रचारक संघ की केन्द्रीय संस्था की ओर से
प्रचार मंत्री
श्री बिन्देश्वरी सिंह
सदर बाजार
पो:—जमालपुर जिला:—मुंगेर
द्वारा प्रकाशित ।

: मिलने का पता :

आनन्द मार्ग प्रचारक संघ,
सदर बाजार, पोस्ट—जमालपुर
जिला—मुंगेर ।

उत्सर्ग ।

श्रद्धेय श्री प्रभात रञ्जन सरकार का उद्देश्य
आपने ही लिखाया है, आपको ही
देता हूँ,

शिव शंकर ।

তোমাদের দর্শন পড়ে লোকে বুঝবে তোমাদের আদর্শ কত উচ্চ, কত সংকীর্ণতা-মুক্ত। আমি আশা করি একদিন তোমরা সমগ্র বিশ্বকে এই উদার, সার্বভৌম, অসাম্প্রদায়িক ভাবধারায় উদ্বুদ্ধ করে বিশ্বভ্রাতৃত্ব প্রতিষ্ঠা করতে পারবে। শুভমস্তু। ইতি।

শ্রীপ্রভাত রঞ্জন সরকার

तुम लोगों का दर्शन पढ़कर लोग समझेंगे कि तुमलोगों का आदर्श कितना ऊँचा और संकीर्णता मुक्त है। मैं आशा करता हूँ कि एक दिन तुम लोग सम्पूर्ण विश्व को इस उदार, सार्वभौम, असम्प्रदायिक भावधाराओं में उद्भूत करके विश्व भ्रातृत्व प्रतिष्ठित कर सकोगे। शुभमस्तु। इ।

श्री प्रभात रञ्जन सरकार।

सूची-पत्र ।

सूचना।

मैं साहित्यिक या दार्शनिक इन दोनों में से एक भी नहीं हूँ। सद्गुरु की कृपा से जिस परम सत्य का सन्धान मैंने पाया है उसको अपनी भाषा में सबों के सामने रखने की चेष्टा मात्र किया है। मैं साहित्यिक नहीं हूँ और भाषा पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है, इसलिए पाठकों से मेरा अनुरोध है कि भाषा में यदि कुछ भी त्रुटि है तो वे मेरे इस दोष को क्षमा करेंगे। पुस्तक की विषय वस्तु अत्यन्त जटिल है, तब भी अपनी शक्ति भर मैंने सहज बनाकर समझाने की कोशिश की है इस आशा से कि मैंने जिस तरह परम सत्य का सन्धान पाया है उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति पावे। इसलिए मैं अपने को तभी भाग्यवान समझूँगा और मेरा परिश्रम तभी सार्थक होगा जब देखूँगा कि इस पृथ्वी पर २५० कोटि लोगों में यदि एक आदमी भी मेरा वचन समझ कर अपने को पहचानने की चेष्टा करता है।

इति—

श्री शिवशंकर बन्द्योपाध्याय

१

धर्म क्या है ?

मनुष्य पृथिवी का सर्वश्रेष्ठ जीव है, क्योंकि उसमें चैतन्य या ज्ञान का विकाश व्यापक रूप में है। मनुष्य के सिवा अन्य किसी भी प्राणी में चैतन्य भाव का विकाश व्यापक रूप से नहीं है। इसी कारण वे सभी मनुष्य से नीची श्रेणी के हैं।

मनुष्य में चैतन्य, व्यापक भाव से विकसित है इसलिये वह पृथिवी में सर्वश्रेष्ठ जीव है।

मनुष्य में चेतना का विकास अधिकाधिक होने के कारण वह भला और बुरा का निर्णय कर सकता है। दुःख पड़ने पर इसी चेतना या ज्ञान के बल से वह निवृत्ति का कोई न कोई उपाय निकाल लेता है। पृथिवी का कोई भी जीव दुःख अथवा कष्ट नहीं चाहता है, तो मनुष्य जिसमें ज्ञान है और जो इसके द्वारा निवृत्ति का मार्ग ढूंढ सकता है वह तो और भी नहीं चाहेगा। इसीलिए वह अपनी चेतना शक्ति द्वारा दुःख अथवा कष्ट से छुटकारा पाने का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेता है। दुःख और कष्ट दूर करने का माने है आनन्द में रहना। तो यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य आनन्द खोजता है। मनुष्य जब दुःख अथवा कष्ट पसन्द नहीं करता है, यानी आनन्द

में रहना चाहता है तब तो यही कहना चाहिए कि मनुष्य का स्वभाव ही है आनन्द को ढूंढ़ना, अथवा यों कहिये कि मनुष्य स्वाभावतः ही आनन्द में रहना चाहता है। अब देखिये साधारणतः मनुष्य आनन्द पाने के लिये क्या-क्या उपाय करता है और वह आनन्द पाता है या नहीं।

मनुष्य स्वाभावतः आनन्द में रहना चाहता है।

आनन्द पाने के लिए मनुष्य संसार में भोग विलाश के सभी साधन यानी रुपया-पैसा, मान-सम्मान, प्रभाव इत्यादि के पीछे दौड़ता है। किन्तु क्या इससे कभी आनन्द की क्षुधा मिटती है? नही, कभी नहीं। जो मनुष्य आज हजार संचित कर चुका है वह कल लाख खोजता है, और लाख पाते ही करोड़ चाहता है, करोड़ पाने पर उससे भी अधिक चाहता है। मतलब है कि मनुष्य को कितना भी रुपया क्यों न हो किन्तु उसकी इच्छा नहीं मिटती है, वह उससे भी अधिक खोजता है। यह भी देखा जाता है कि जो मनुष्य आज एक जिला का प्रभावशाली व्यक्ति है वह कल अपना प्रभाव समूचे प्रान्त में चाहता है। फिर जब उसकी ख्याति प्रान्त भर में छा जाती है तो वह देश भर में अपनी ख्याति का प्रसार चाहता है। वही मनुष्य यदि देश भर में विख्यात हो जाता है तो उसकी चाह संसार भर में ख्याति प्राप्त करने की होती है। यह साफ-साफ बताता है कि मनुष्य की

मनुष्य में भोग की भूख अनन्त है।

क्षुधा अनन्त है, अर्थात् उसकी क्षुधा का अन्त नहीं है। वह जितना ही पाता है, उतना ही और चाहता जाता है। उसकी क्षुधा कभी नहीं मिटती है।

मनुष्य की क्षुधा यदि अनन्त है, तो भला अनन्त वस्तु के पाए बिना क्या कभी उसकी क्षुधा मिट सकती है? जिस को रुपया की क्षुधा है उसको यदि अनन्त रुपया न मिले तो क्या उसकी क्षुधा कभी मिट सकती है? फिर जिस मनुष्य को मान-सम्मान, प्रभाव इत्यादि की भूख है सो भला क्यों कर मिटेगी यदि अनन्त रूप में नहीं मिलता है? रुपया पैसा मान-सम्मान, प्रभाव इत्यादि कभी भी अनन्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे सभी पृथिवी पर की चीजें हैं। पृथिवी स्वयं अनन्त नहीं है। तो भला जो स्वयं अनन्त नहीं है उसके अन्दर की वस्तुएं अनन्त कैसे हो सकती हैं? मनुष्य की क्षुधा अनन्त है। अतएव, रुपया-पैसा, मान-सम्मान प्रभाव इत्यादि से यह मिट नहीं सकती है, क्योंकि ये सभी वस्तुएं अन्तवान हैं यानी अनन्त नहीं हैं। जब मनुष्य की क्षुधा अनन्त है, तो अनन्त वस्तु देने से ही उसकी यह भूख मिट सकती है। वह अनन्त वस्तु तब है क्या?

इसलिए अनन्त वस्तु से ही उसकी क्षुधा मिट सकती है।

एकमात्र भगवान को छोड़कर कोई भी वस्तु अनन्त नहीं है। अतएव, मनुष्य की अनन्त क्षुधा केवल अनन्त अथवा भगवान को पाने से ही मिट सकती है। मनुष्य जितना मान-

एक मात्र भगवान ही अनन्त हैं।

सम्मान, रुपया-पैसा, प्रभाव आदि पाता है उतना ही और भी पाने की उसकी इच्छा होती है। यही क्या नहीं बताता है कि मनुष्य अनन्त रुपया-पैसा, मान-सम्मान, प्रभाव आदि खोजता है? मनुष्य हरएक पदार्थ को अनन्त रूप से ही पाना चाहता है। इसीलिए उसकी इच्छा किसी भी पदार्थ से नहीं मिटती है, क्योंकि एकमात्र भगवान को छोड़ कर कोई भी वस्तु अनन्त नहीं है। संसार की किसी भी वस्तु से मनुष्य की आशा नहीं मिटती है,उसकी तृप्ति कभी नहीं होती है। फिर भी वह सांसारिक वस्तु ही पाना चाहता है, और जितना पाता है उतना ही अधिक पाने की उसकी इच्छा बढ़ती जाती है। क्या

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव है भगवान को प्राप्त करना।

यह नहीं बताता है कि मनुष्य का स्वभाव ही अनन्त को खोजना या पाना है? अनन्त तो केवल भगवान ही हैं। अतएव, क्या मनुष्य का स्वभाव ही भगवान को खोजना या पाना नहीं है?

धर्म है, स्वभाव या नेचर(nature)

धर्म शब्द का अर्थ है स्वभाव, जिसको अंग्रेजी में नेचर (nature) कहा जाता है। जैसे देखिये आग का धर्म जलाना और गर्मी पहुँचाना, अर्थात् आग का स्वभाव या नेचर (nature) है जलाना या ताप पहुँचाना। अतएव, जब धर्म कहने से स्वभाव अथवा नेचर (nature) बुझाता है, तब तो कहना होगा कि मनुष्य

का स्वभाव या धर्म या नेचर (nature) है भगवान को खोजना और प्राप्त करना।

मनुष्य रूपी जीव में चैतन्य का विकाश व्यापक रूप से है इसीलिए हम हरएक मनुष्य में दो चीजें पाते हैं, एक जीवत्व अथवा पशुत्व और दूसरी चैतन्य का व्यापक विकाश। जीवत्व मनुष्य का जीवत्व अथवा पशुत्व का अर्थ है पशुसमान केवल वा पशुत्व भोग जीवन धारण, अर्थात् पशुप्रवृत्ति में जो चाहता है, जो भोग वृत्ति है, याने केवल भोजन, आराम अनन्त नहीं है। इत्यादि की कामना है, सो ही समझा जाता है। मनुष्य में भी ये पशुभाव हैं। इसीलिए वह संसार को भोग विलास की जगह समझ कर उसकी ओर जाता है। किन्तु उसमें वह आनन्द नहीं पाता है, क्योंकि उसकी क्षुधा अनन्त है और संसार की सभी भोग सामग्रियाँ सीमित हैं। इसीलिए मनुष्य की भोग की अनन्त लालसा या क्षुधा सिमित भोग्य वस्तु से नहीं मिट सकती है। पशुवृत्ति है भोगवृत्ति, क्योंकि पशु केवल भोग पर ही रहता है। किन्तु पशु की भोग लालसा या क्षुधा अनन्त नहीं है। पशु को जितना भी भोग्य वस्तुएं दीजिए, वह केवल अपनी आवश्यकतानुसार ही लेता है। अतएव इससे यह साबित होता है कि उसकी भोग की भूख अनन्त नहीं है। मनुष्य की भोग की मनुष्य में व्यापक भूख तो अनन्त है। मनुष्य और पशु दोनों ही भाव से विकासत जीव हैं। इन दोनों में भेद यह है कि

चैतन्य अनन्त को ढूंढ रहा है।

मनुष्य में चैतन्य का विकाश व्यापक रूप से है, और पशु में नहीं है। अतः यह साबित हुआ कि मनुष्य में चैतन्य का व्यापक रूप से विकाश होने के कारण ही उसकी क्षुधा अनन्त है, अर्थात् व्यापक रूप से विकशित चैतन्य ही अनन्त अथवा भगवान को खोजता फिरता है।

इसीलिए मनुष्य के चैतन्य और पशुत्व में सर्वदा द्वन्द चलता रहता है फलतः मनुष्य किसी भी वस्तु से तृप्ति नहीं पाता है।

मनुष्य को भोग में आनन्द क्यों नहीं मिलता है अथवा उनकी भोग लालसा क्यों नहीं मिटती है? उसका पशुत्व भाव उसको भोग की ओर खींचता है, और उसमें स्थित व्यापक चैतन्य अनन्त को ढूंढ रहा है। अगर भोग की सामग्रियां अनन्त होती, अर्थात् रुपया-पैसा, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा इत्यादि। यदि अनन्त होते तब तो मनुष्य भोग में ही आनन्द तथा शान्ति पा जाता, क्योंकि मनुष्य का पशुभाव जैसे भोग खोजता है उसी तरह उसका चैतन्य भी भोग मार्ग से ही अनन्त को पा जाता। किन्तु मैंने तो पहले ही कहा है कि भोग की चीजें अनन्त नहीं हैं, इसी कारण चैतन्य की क्षुधा भोग से नहीं मिटती है। इसीलिए मनुष्य में सर्वदा उसके पशुत्व तथा चैतन्य में द्वन्द चलता रहता है, अर्थात् मनुष्य का पशुत्व ऐसी चीज खोज रहा है जो अन्तवान है और चैतन्य उसके विपरीत अनन्त को खोज रहा है। यही कारण है कि मनुष्य किसी भी

चीज से तृप्त नहीं होता है। इससे तो यही समझ में आता है कि केवल चैतन्य हेतु ही मनुष्य भोग से तृप्त नहीं होता है याने उसकी भोग आकांक्षा कभी नहीं मिटती है।

केवल व्यापक चैतन्य होने के कारण ही मनुष्य को पशु नहीं कहा जाता है। तो क्या मनुष्य के लिए यह उचित नहीं है कि वह उस चैतन्य से काम ले? अगर मनुष्य चेतना से काम न ले, अर्थात् चैतन्य को अगर वह अपने भीतर सुषुप्त रक्खे तो मनुष्य चैतन्य विहीन पशु समान हो जाता है। अर्थात्, जिस मनुष्य का चैतन्य काम नहीं करता है, यानी जो चेतना से काम नहीं लेता है वह तो मनुष्य नहीं है। वह मनुष्य शरीरधारी पशु है।

जब चैतन्य का धर्म अथवा स्वभाव है अनन्त अथवा भगवान को खोजना तब जो मनुष्य वास्तव में मनुष्य है, अर्थात् जो विकशित चैतन्य से काम लेता है उसका धर्म क्या अनन्त अथवा भगवान को खोजना नहीं है? अतएव, जब मनुष्य में चैतन्य व्यापक भाव से विकशित है, और इस व्यापक भाव से विकशित चैतन्य का जब स्वभाव अथवा धर्म ही है अनन्त को खोजना, तब तो मनुष्य का धर्म होता है अनन्त अथवा भगवान को खोजना।

मनुष्य जो चाहता है उसको जब पाने लगता है अथवा पा जाता है तो उसे आनन्द होता है और न पाने से वह उस आनन्द से वंचित रहता है, निरानन्द होता है। मनुष्य का

विकशित चैतन्य, जिसके लिए मनुष्य को पशु न कह कर मनुष्य कहा जाता है, चाहता है अनन्त, यानी ब्रह्म को प्राप्त करना। अतएव, मनुष्य जब भगवान को पाएंगे अथवा पाने लगेंगे तभी वे असल में आनन्द पाएंगे। इससे तो यही साबित होता है कि मनुष्य का एकमात्र धर्म जब अनन्त अथवा भगवान को ही पाना है, तो मनुष्य धर्म के ही द्वारा वास्तविक अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य का एकमात्र धर्म भगवान को ही पाना है, तब भगवान है या नहीं यह भी देखना जरूरी है, क्योंकि जो चीज नही है उसको पाना अथवा उसके पाने की चेष्टा करना ही निरर्थक है। तो अब यह देखना है कि भगवान हैं या नहीं और यदि हैं तो वे क्या हैं ?

देखने से पहले तो यही ज्ञात होता है कि मनुष्य जो भी काम करता है वह दसों इन्द्रियों द्वारा ही। किन्तु क्या उसकी दसों इन्द्रियाँ काम कर सकती हैं, यदि उनके पीछे उसका मन काम न करता हो ? काम तो मनुष्य का मन करता है और दसों इन्द्रियाँ उसके सहायक हैं। अर्थात्, मनुष्य के मन का विकाश उसकी दसों इन्द्रियाँ द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य एक कुर्सी देख रहा है। वह कुर्सी देखता किस तरह है ? आँख इन्द्रिय की सहायता से उसका मन ही उस कुर्सी को

मनुष्य की दसों
इन्द्रियाँ स्वयं काम
नहीं करती हैं।
काम तो उनका
मन करता है और
दसों इन्द्रियाँ उस

के सहायक हैं। देख रहा है। इसी से वह कुर्सी को देख पाता है। अब देखिए कुर्सी को आँख देखती है न मन। मान लीजिए उस मनुष्य को औषधि द्वारा ज्ञान शून्य कर दिया गया तब तो उसका मन काम नहीं करता है। किन्तु बेहोश होने से उसकी आँख तो खराब नहीं हुई। लेकिन वह तो आँख ठीक रहते हुए भी ज्ञान शून्य होने के कारण कुर्सी नहीं देख सकता है। बेहोशी में उसका मन काम नहीं करता है इसी कारण इन्द्रिय ठीक रहने पर भी वह कोई भी काम नहीं कर सकता है, यही तो साबित करता है कि मनुष्य की दसों इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं वरन उसका मन ही दसों इन्द्रियों की सहायता से काम करता है, यानी दसों इन्द्रियाँ हमारे मन के बाहरी विकास का माध्यम हैं।

अब देखा जाए कि मनुष्य का मन उसकी दसों इन्द्रियों द्वारा किस प्रकार काम करता है। मान लो मैं कुर्सी देखने का काम कर रहा हूँ। मैं कुर्सी देखता हूँ का अर्थ है कि मेरा मन आँख की सहायता से कुर्सी का रूप ग्रहण कर लेता है। अर्थात् जिस रूप को देखकर मैं कुर्सी को कुर्सी कहता हूँ वही रूप मेरा मन धारण कर लेता है। मेरे मन का जो अंश कुर्सी देख कर स्वयं ही कुर्सी का रूप धारण करता है उस अंश का नाम चित्त है। मेरा चित्त ज्योंही कुर्सी का रूप ग्रहण करता है वैसे ही मुझको देखने का काम करना ही होगा। ऐसा नहीं होने से हम कुर्सी

चित्त।

देखते कैसे हैं? अतः ज्योंही चित्त कुर्सी का रूप ग्रहण करता है त्योंही मनका एक और अंश उस रूप को देखने का काम करता है। मेरे मन का यह अंश जो देखने का काम करता है उसको अहंतत्त्व कहते हैं। केवल देखने का ही काम करने से तो मैं नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि जब तक मैं हूँ नहीं यानी मेरा अस्तित्व है ऐसा बोध नहीं होता है, तब तक मैं कुर्सी देख कैसे रहा हूँ? अतः कुर्सी देखने का काम करते ही मुझे अपने अस्तित्व का का प्रमाण बोध प्रथम ही करना होगा, तभी तो मैं कुछ काम कर सकता हूँ. इस अहंतत्त्व के पीछे मन का एक और अंश है जिस के द्वारा मैं अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता हूँ, अर्थात् जिसके द्वारा 'मैं हूँ' यह भाव आता है। मन के इस अंश का का नाम है महत् अथवा बुद्धि तत्त्व। चित्त ने ज्यों ही कुर्सी का रूप लिया अहंतत्त्व ने उसको देखने का काम किया और तब मैं ने कुर्सी को देखा। चित्त, अहंतत्त्व, महत्तत्व अथवा बुद्धितत्त्व का एकत्रित नाम है मन या अन्तः-करण। अर्थात्, मेरा मन अथवा अन्तःकरण चित्त, अहंतत्त्व तथा महत्तत्व इन तीनों को मिलाकर बना है। तब मैं जो कुर्सी देख रहा हूँ उसका अर्थ है मेरा मन ही कुर्सी का रूप ग्रहण कर उसको देख रहा है।

अहंतत्त्व

महत्तत्व अथवा बुद्धि तत्त्व।

बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन तीनों को मिलाकर मनुष्य का मन या अन्तः करण

दृश्य।　　　फलतः मैं कुर्सी देखता हूँ। मन जो यह कुर्सी देख कर कुर्सी का रूप ग्रहण करता है जिसके फलस्वरूप मैं

तन्मात्र।　　　कुर्सी देखता हूँ, इसको कहते हैं मनका कुर्सी के रूप में तन्मात्र को ग्रहण करना।

अब देखिए तन्मात्र क्या है? वस्तु को इन्द्रिय जिस सूक्ष्मभाव से ग्रहण करता है उसी का नाम है तन्मात्र। यहाँ मैं कुर्सी को पहचानता हूँ उसका रूप देख कर, याने उसके रूप तन्मात्र द्वारा ही मैं समझता हूँ कि यह कुर्सी है। अन्धकार में मैं उसको देख नहीं पाता हूँ, किन्तु छूने से तथा हाथ फेरने से ही समझ पाता हूँ कि यह एक कुर्सी है। यहाँ उसके स्पर्श तन्मात्र द्वारा ही मैं समझ पाता हूँ कि यह एक कुर्सी है। अगर कोई मेरी दृष्टि अथवा स्पर्श से दूर एक कुर्सी खींचता है तो उस समय खींचने के शब्द से भी ज्ञान होता है कि कोई कुर्सी पकड़ कर खींच रहा है। यहाँ पर मैं कुर्सी को पहचानता हूँ उसके शब्द तन्मात्र द्वारा। अहंतत्त्व जिस वस्तु को जानता है चित्त उसी का रूप लेता है। यहाँ मैं कुर्सी देख रहा हूँ इसलिए चित्त कुर्सी का रूप लेता है, अर्थात् चित्त उसके रूप तन्मात्र को ग्रहण करता है और अहंतत्त्व देखने का काम करता है। फलतः मैं कुर्सी देखता हूँ। फिर जब मैं स्पर्श तथा शब्द द्वारा पहचानता हूँ कि यह एक कुर्सी है उस समय मेरा चित्त उसके स्पर्श तथा शब्द तन्मात्र द्वारा ही उस को पहचानता है। मन किस प्रकार तन्मात्र ग्रहण करता

है ? मैं कुर्सी देखता हूँ, अर्थात् मेरा चित्त कुर्सी का रूप लेता है, अहंतत्त्व देखने का काम करता है, फलस्वरूप मैं कुर्सी देखता हूँ। चित्त ने कुर्सी का रूप लिया, इस का अर्थ है कि चित्त कुर्सी के रूप तन्मात्र को नेत्र द्वारा ग्रहण कर आप ही उस रूप में परिणत हो गया। कुर्सी का रूप देखकर ही, अर्थात् कुर्सी के रूप तन्मात्र के कारण ही मैं कुर्सी को कुर्सी समझ कर पहचानता हूँ। यह कुर्सी का सूक्ष्म रूप तरंग सर्वदा अनन्त महाकाश में कुर्सी से प्रवाहित हो रहा है। मेरा मन देखने का काम करने के लिए नेत्र का सहारा लेता है। फलतः मन जब कुर्सी देखना चाहता है तो नेत्र द्वारा कुर्सी का रूप तन्मात्र ग्रहण करता है। मेरे मन का अहंतत्त्व काम कर रहा है, अर्थात् कुर्सी देखने का काम कर रहा है अहंतत्त्व। अतः जब कुर्सी देखना चाहेगा तो वह चित्त को नेत्र द्वार तक भेजेगा। चित्त ज्योंहि नेत्रद्वार तक आता है त्यों ही कुर्सी का सूक्ष्म रूप तरंग वा कुर्सी का रूप तन्मात्र, जो सर्वदा अनन्त महाकाश में प्रवाहित हो रहा है, नेत्र में आकर धक्का देता है। इसी धक्का के कारण चित्त अपने स्थान पर वापस जा कर कुर्सी का रूप ग्रहण करता है। फलस्वरूप, अहंतत्त्व कुर्सी देखता है। तात्पर्य है कि अहंतत्त्व जो करना चाहता है चित्त वही हो जाता

इन्द्रियों की सहायता से मेरे मन का अहं-तत्त्व काम करता है इसीलिए वह चित्त को अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय द्वार तक भेजता है तन्मात्र ग्रहण करने के लिये।

है। ठीक इसी प्रकार अहंतत्त्व शब्द सुनना चाहता है तो
चित्त कान द्वारा शब्द तन्मात्र लेकर स्वयं ही शब्द उच्चारण
करता है। फलतः अहंतत्त्व शब्द श्रवण करता है। किन्तु कुर्सी
का रूप होने से और उस रूप को देखने का काम करने से ही
तो मैं नहीं देख सकूँगा क्योंकि जब तक न मेरा अस्तित्व साबित
होता है तब तक मै हूँ कहाँ और पहले मैं हूँ तब न मैं देखता
हूँ? चित्त और अहंतत्त्व से परे भी मन का एक और अंश
मन द्वारा ही हम है जिसका नाम बुद्धितत्त्व है। यह देखता
लोग सब काम हूँ कि बुद्धि या महत्तत्व केवल मेरे अस्तित्व
करते है और मन को ही साबित करता है। अर्थात्, "मैं हूं"
ही द्वारा हम इसी भाव को प्रमाणित करता है। पहले ही
अपना अस्तित्व कहा जा चुका है कि जो भी काम हम करते
भी साबित करते हैं वह मनके ही द्वारा होता है। मैं कुर्सी
हैं। देखता हूँ का मतलब है कि मेरा मन
कुर्सी देखता है। मेरा मन बना है, बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व,
और चित्त, इन तीनों को मिलाकर। अतएव, कोई भी
काम करने के समय ये तीनों तत्त्व काम करेंगे। 'मैं कुर्सी
देखता हूँ' ऐसा कहने से तो यही बोध होता है कि
पहले मैं हूँ तब न मैं कुर्सी देख रहा हूँ। यदि मैं नहीं
हूँ तो कुर्सी देखता कौन है? अतएव, 'मैं कुर्सी देखता हूँ' का
अर्थ है कि मैं हूँ अर्थात् मेरा अस्तित्व है, तभी तो मैं कुर्सी
देख रहा हूँ। मन में यह जो "मैं हूँ" का भाव है जिसके

द्वारा मेरा अस्तित्व प्रमाणित होता है, यह हुआ बुद्धि अथवा महत्तत्व। 'मैं हूँ' कहने से क्या यह बोध नहीं होता है कि मैं जानता हूं कि मैं हूं ? गंभीरता से चिंतन करने पर देखते हैं कि मैं हूँ कहने से साफ पता चलता है कि मैं जानता हूँ कि "मैं हूँ"। "मैं हूं" यह जो भाव है, वह है मेरी बुद्धि अथवा बुद्धितत्त्व जिसके द्वारा मैं अपना अस्तित्व प्रमाणित करता हूँ। तब जो "मैं" जानता हूँ कि "मैं" हूं, वह मैं अर्थात् "मैं हूँ" को जानने वाला "मैं" कौन है ? यह "मैं" तो मन के अन्दर नहीं आता है; क्योंकि बुद्धितत्व, अहंतत्व और चित्त के द्वारा "मैं" जानता हूं यह भाव नहीं आता है। यह भाव मन के बाहर है। तब मैं देखता हूं कि जिस मन के द्वारा मैं अपना अस्तित्व प्रमाणित करता हूँ, अर्थात् "मैं हूं" यह आत्मा या अणु भाव आता है उससे बाहर भी एक "मैं" चैतन्य मन के है जो केवल जानता है कि मैं हूँ। बाहर है। अतएव यह साबित होता है, कि मेरे मन के बाहर भी एक मैं है। यह मन से बाहर वाला "मैं" कौन है ? यह जो मन से बाहर मैं है जो केवल जानता है कि मैं हूँ इसी मैं को आत्मा अथवा अणु चैतन्य कहते हैं। मेरे भीतर देखने में आत्मा और मन दो हुआ।

तो अब देखना चाहिए कि इन दोनों का क्या सम्बन्ध है ? मैं कुर्सी देखता हूँ यह कहने से क्या मालूम होता है ? प्रथम तो यह ज्ञात होता है कि मैं जानता हूँ कि मैं हूं। तत्पश्चात्,

यह ज्ञात होता है कि जो मैं हूँ वही देख रहा हूँ। अन्त में यह ज्ञात होता है कि मेरे देखने के काम के लिये मेरे मन का वह अंश जो चित्त कहलाता है कुर्सी का तन्मात्र होकर स्वयं ही कुर्सी का रूप बन जाता है। मैं जानता हूँ, यह हुआ आत्मा, मैं हूँ, यह हुआ बुद्धितत्त्व अथवा महत्तत्व जिससे मेरा अस्तित्व प्रमाणित होता है, और जो मैं हूँ, वही मैं देखता हूँ, यह हुआ मेरे मन का अहंतत्त्व जिसके द्वारा मैं काम करता हूँ। मेरे काम करने के फलस्वरूप मेरे मन का चित्त अंश कुर्सी का रूप ग्रहण करता है। अतएव मैं कुर्सी देखता हूँ। तो यह देखा जाता है कि एक ही मैं सब जगहों में है, यानी पहले मैं जानता हूँ, तत्पश्चात् मैं हूँ, बाद में मैं देखता हूँ, फलस्वरूप मेरा चित्त कुर्सी का रूप ग्रहण करता है। मैं जानता हूँ, मैं हूँ, मैं देखता हूँ, फलस्वरूप चित्त कुर्सी का रूप ग्रहण करता है ये सब जो एक मैं का ही अलग-अलग भाव हुआ, तथा चित्त, आया कहाँ से ? यानी मैं क्यों जानता हूँ, मैं क्यों हूँ, मैं क्यों देखता हूँ और मेरा चित्त क्यों 'रूप ग्रहण' करता है ? मैं हूँ कहने से ही ज्ञात होता है कि मैं जानता हूँ कि मैं हूं। मैं जानता हूँ यह हुई मेरी आत्मा या अणु चैतन्य और मैं हूँ या मेरा अस्तित्व है यह भाव हुआ मेरा महत्तत्व अथवा बुद्धितत्त्व।

आत्मा के बिना मन नहीं रह सकता है।

मैं हूं कहने से ही जब ज्ञात होता है कि मैं जानता हूँ कि मैं हूं तो मैं हूँ अथवा मेरा अस्तित्व है यह कहने से ही साबित होता है

कि मेरी आत्मा है। कहा जा चुका है कि आत्मा, अणु चैतन्य अथवा अणु ज्ञान है। चैतन्य अथवा ज्ञान रहने से ही तो बोध होता है कि मैं हूँ या मेरा अस्तित्व है। मुझको अगर ज्ञान ही न होगा तो मैं कैसे जान पाऊँगा कि मैं हूँ ? अतएव, मैं हूँ का बोध कराने के लिये, यानी मेरे अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। तो पहले हुआ ज्ञान या चैतन्य, तत्पश्चात् आया मैं हूँ का भाव यानी अपना अस्तित्व–बोध। अर्थात्, पहले हुआ आत्मा या अणुचैतन्य बाद में आता है बुद्धितत्त्व। इससे साबित होता है कि आत्मा या अणुचैतन्य के बिना बुद्धितत्त्व नहीं रह सकता है।

"मैं जानता हूँ" और "मैं हूँ" क्या यह दोनों एक मैं का ही दो भाव नहीं है ? एक जगह मैं ही जानता हूँ और फिर एक जगह मैं ही अपना अस्तित्व प्रमाणित करता हूँ। यानी एक ही "मैं" दो जगहों पर दो भाव से भावित हो रहा है। कहा जा चुका है कि मैं जानता हूँ यह बोध हुआ अणुचैतन्य या आत्मा, और मैं हूं यह बोध हुआ मेरा बुद्धितत्त्व। यह भी देख चुके हैं कि "मैं जनता हूँ" का बोध अर्थात् अणुचैतन्य के बिना मैं हूँ का बोध यानी बुद्धितत्त्व रह नहीं सकता है। इसलिये पहले आता है, मैं जानता हूँ या अणुचैतन्य, तत्पश्चात् आता है मैं हूँ या बुद्धितत्त्व। अर्थात्, जो मैं जनता हूँ वही मैं अपना अस्तित्व या मैं हूं को प्रमाणित करता हूँ। तो "मैं जानता हूँ" यह हुआ अणुचैतन्य और यह अणुचैतन्य जब अपने अस्तित्व

को प्रमाणित करता है यानी "मैं हूँ" भाव से भावित होता है तब उस भाव को बुद्धितत्त्व कहते हैं। अर्थात्, संक्षेप में यह कह सकते हैं कि मेरा बुद्धितत्त्व मेरे अणुचैतन्य का ही विकाश है। जब अणु-चैतन्य ही बुद्धितत्त्व में विकशित होता है यानी मेरी आत्मा ही जब मेरे अस्तित्व को प्रमाणित करती है तब तो बुद्धितत्त्व उसी के (आत्मा के) एक गुण का विकाश हुआ। मेरे अणुचैतन्य का बुद्धितत्त्व में विकशित होने का गुण है तभी तो वह बुद्धितत्त्व में विकशित होता है। अर्थात् जो "मैं" जानता हूँ वही "मैं" यह भी जान सकता है कि "मैं हूँ"। तो यह देखा जाता है कि अणुचैतन्य के भीतर केवल चैतन्य ही नहीं है बल्कि उसके अन्दर गुण भी है। जब मैं यह देखता हूँ कि अणुचैतन्य के भीतर चैतन्य के अलावे गुण भी है तब मैं उसमें दो चीजें पाता हूँ-एक चैतन्य और दूसरा उसका गुण। यह चैतन्य का गुण केवल गुण ही है चैतन्य नहीं, क्योंकि यह गुण अगर चैतन्य होता तो उसको गुण नहीं कह कर चैतन्य ही कहते। अतः गुण जब चैतन्य नहीं है तो निश्चय ही यह चैतन्य से अलग एक वस्तु है। तब यह प्रश्न होता है कि चैतन्य का गुण जब चैतन्य से अलग एक वस्तु है, तो इस गुण को चैतन्य ने पाया कहाँ अथवा चैतन्य को कौन गुणान्वित करता है? अणुचैतन्य को जो गुणान्वित करती

आत्मा में चैतन्य के अलावे गुण भी है।

है अथवा जिससे अणु चैतन्य गुण पाता है उसको प्रकृति कहते हैं। अर्थात्, प्रकृति अणु-चैतन्य को गुणान्वित कर रही है, फलस्वरूप अणु चैतन्य समझता है कि वह है, यानी "मैं हूँ" का बोध होता है।

अणुचैतन्य को गुणान्वित करती है उसको प्रकृति कहते हैं

अब देखिए प्रकृति किसको कहते हैं। साधारणतः भाषा में प्रकृति का अर्थ है स्वभाव, जिसको अंग्रेजी में नेचर (Nature) कहते हैं।

उदाहरणार्थ, आग जलाती है तो उसकी प्रकृति या स्वभाव हुआ जलाना, अर्थात् आग का नेचर हुआ जलाना। यही है न?

प्रकृति अंग्रेजी का नेचर (Nature नहीं है।

किन्तु जिस प्रकृति के द्वारा अणुचैतन्य गुणान्वित हो रहा है उस प्रकृति का अर्थ स्वभाव या अंग्रेजी का नेचर नहीं है। जब मैं कहता हूँ कि आग जलाती है या आग की प्रकृति या स्वभाव जलाना ही है तब मैं यह जानता हूं कि आग में जलाने का गुण अथवा शक्ति है तभी तो वह जलाती है। अब यहाँ भी अणुचैतन्य के गुण के ऐसा प्रश्न होता है कि आग ने जलाने की शक्ति पाई कहाँ से या आग की प्रकृति या स्वभाव जो जलाना ही है उसको पैदा किसने किया? अणुचैतन्य को जो गुण से प्रभावित करता है उसको प्रकृति कहते हैं। यहाँ पर यदि प्रकृति को स्वभाव या Nature कहते हैं तो देखते हैं कि दर्शन में प्रकृति शब्द का व्यवहार जिस अर्थ में हुआ है साधारण

भाषा में प्रकृति का वह अर्थ निकालने से दर्शन में प्रकृति शब्द का अर्थ सर्वत्र गलत हो जायगा। प्रकृति शब्द की उत्पत्ति है प्र+कृ+तिन् और इसका अर्थ है विशेष भाव से करना। अणुचैतन्य अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए ही प्रकृति से गुण पाता है, अर्थात् प्रकृति अणुचैतन्य को उसके अस्तित्व का बोध कराती है। तो देखते हैं कि अणुचैतन्य प्रकृति के कारण ही गुणान्वित होता है, अर्थात् प्रकृति अणुचैतन्य को उसके अस्तित्व का बोध कराने के लिए ही गुणान्वित कर रही है। कोई भी काम करने के लिए शक्ति या क्षमता की आवश्यकता होती है। प्रकृति जब पुरुष को गुणान्वित करती है तो निश्चय ही यह एक शक्ति विशेष है। इस तरह हम पाते हैं कि दर्शन में प्रकृति शब्द का अर्थ है एक शक्ति विशेष जिसके कारण अणुचैतन्य गुणान्वित होता है, अर्थात् जो अणुचैतन्य को गुण से प्रभावित कर रही है। अब देखते हैं कि प्रकृति एक शक्ति विशेष है जिसके कारण अणुचैतन्य गुणान्वित होता है, तो यह प्रश्न उठता है कि यह प्रकृति किसकी शक्ति है? प्रकृति अणुचैतन्य की ही शक्ति विशेष है और यह (अणुचैतन्य) अपनी इसी शक्ति के कारण गुणान्वित हो रहा है। प्रकृति जब अणु की ही शक्ति है, तो यह कभी भी इससे अलग होकर नहीं रह सकती है, अर्थात् अणुचैतन्य के रहने से

प्रकृति अणुचैतन्य की ही एक शक्ति विशेष है।

प्रकृति रहेगी ही। उदाहरणार्थ, आग और उसकी जलाने की शक्ति। आग रहने से ही उसमें जलाने की शक्ति रहेगी। आग और उसकी जलाने की शक्ति दो अलग-अलग चीजें हैं लेकिन यदि आग की जलाने की शक्ति को उससे अलग कर दिया जाए तो क्या आग रह सकती है? आग रहने से ही उसमें उसकी जलाने की शक्ति रहेगी ही। जैसे उसको किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता है वैसे ही जिस शक्ति से जो शक्तिमान् है उसकी वह शक्ति उसके साथ इस प्रकार से रहती है कि उसको किसी भी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता है। प्रकृति जब अणुचैतन्य की ही शक्ति है तो प्रकृति को अणुचैतन्य से अलग कैसे किया जा सकता है। जैसे, आग और उसकी जलाने की शक्ति को कभी भी किसी भी समय कोई भी शक्ति अलग नहीं कर सकती है। उसी प्रकार अणुचैतन्य और प्रकृति को भी कोई अलग नहीं कर सकता है, अर्थात् अणुचैतन्य रहने से ही प्रकृति रहेगी और अवश्य रहेगी।

इसलिये प्रकृति और चैतन्य कभी भी अलग अलग नहीं रह सकते हैं।

देखते हैं कि अणुचैतन्य के रहने से प्रकृति भी उसके साथ रहती है। प्रकृति एक शक्ति विशेष है जिसका काम है अणुचैतन्य को गुणान्वित करना। इसलिए जब अणु-चैतन्य के रहने प्रकृति अवश्य ही रहती है, तो उसका काम ही हुआ अणुचैतन्य को गुणान्वित करते रहना।

मेरा अणुचैतन्य हुआ 'मैं' का ज्ञाता यानी वह

'मैं' जो केवल जानता है। यह जाननेवाला अर्थात् ज्ञाता 'मैं' जब प्रकृति के गुण द्वारा गुणान्वित होता है तब वह अपने अस्तित्व का बोध पाता है अर्थात् तभी मैं जानता हूँ कि 'मैं हूँ'। प्रकृति का यह गुण जिससे अणुचैतन्य अपने अस्तित्व मात्र को प्रमाणित करता है सत्वगुण कहलाता है। पहले ही कहा जा चुका है कि यह जो मैं हूँ का भाव है जिससे मैं अपना अस्तित्व प्रमाणित करता हूँ इसका नाम है बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व। इस तरह देखा जाता है कि प्रकृति के सत्वगुण के प्रभाव से बुद्धितत्त्व की सृष्टि हुई, यानी अणुचैतन्य ने प्रकृति के सत्वगुण के प्रभाव से निज को बुद्धितत्त्व में विकशित किया या स्वयं ही बुद्धितत्त्व बन गया।

सत्वगुण

इसके कारण बुद्धितत्त्व की सृष्टि होती है।

जब मैं कहता हूँ कि मैं देखता हूँ, तो पहले मैं हूँ तब न मैं देखता हूँ, अर्थात् मेरा अस्तित्व रहेगा तभी तो मैं देख सकूँगा? यहां भी एक मैं का दो भाव पाता हूँ। प्रथम मैं वह है जो अपने अस्तित्व का बोध करता है, दूसरा 'मैं' वह है जिसका अस्तित्व प्रमाणित हो चुका है और अब वह देखने का काम कर रहा है। जो मैं अस्तित्व प्रमाणित कर रहा है वह है बुद्धितत्त्व, तो यही कहना होगा कि मेरा बुद्धितत्त्व देखने का काम रहा है। बुद्धितत्त्व मेरे अणुचैतन्य का ही विकाश है। अणु-

रजोगुण

चैतन्य रहने से प्रकृति अवश्य रहेगी और वह अणुचैतन्य को गुणान्वित भी करेगी। अतः बुद्धितत्त्व को प्रकृति गुणान्वित कर रही है और करेगी। बुद्धितत्त्व देखने का काम कर रहा है का अर्थ है कि बुद्धितत्त्व प्रकृति द्वारा गुणान्वित हुआ है तभी तो वह काम कर रहा है। बिना गुणान्वित हुए बुद्धितत्त्व कैसे काम कर सकता है ? जिस गुण के द्वारा प्रकृति बुद्धितत्त्व को गुणान्वित करती है, उसका नाम हुआ रजोगुण, अर्थात् प्रकृति के रजोगुण के कारण ही मैं देखता हूँ। ऊपर कहा जा चुका है कि मैं देखता हूँ का माने है कि पहले मैं हूँ या मेरा अस्तित्व है तभी न जो मैं का अस्तित्व है वह 'मैं' देखता है, अर्थात् एक 'मैं' का ही दो भाव है। प्रथम भाव हुआ कि मैं अपना अस्तित्व प्रमाणित करता हूँ जिसका नाम है बुद्धितत्व और दूसरा भाव हुआ कि मैं देखने का काम करता हूँ। यह जो मेरे देखने का काम है इसका नाम है अहंतत्त्व और इसकी सृष्टि होती है बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुण के प्रभाव से। या यों कहिए कि बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुण के कारण अहंतत्त्व की सृष्टि हुई, अर्थात् बुद्धितत्त्व ने ही प्रकृति के रजोगुण के कारण निज को अहंतत्त्व में विकशित किया है या स्वयं ही अहंतत्त्व बन गया है।

इससे अहंतत्त्व की सृष्टि होती है।

'मैं देखता हूँ' कहने से ही प्रश्न उठता है कि मैं क्या देखता

हूँ, अर्थात् मेरे देखने के काम का फल क्या है ? मैं कुर्सी देखता हूँ कहने से मालूम होता है कि मेरे देखने का काम का फल है कुर्सी, अर्थात् मैं कुर्सी नामधारी एक वस्तु को देखता हूँ। यह पहले ही बताया जा चुका है कि मैं कुर्सी कैसे देखता हूँ। मेरे मन का चित्त अंश कुर्सी के रूप तन्मात्र को ग्रहण कर स्वयं ही कुर्सी का रूप धारण कर लेता है, फलस्वरूप मैं कुर्सी देखता हूँ। फिर प्रश्न होता है कि चित्त क्या है ? अहंतत्त्व जो कुछ भी देखता या सुनता है चित्त को वही बनना पड़ता है, यानी अहंतत्त्व जब कुर्सी देखता है तो चित्त कुर्सी का रूप धारण कर लेता है और जब वह शब्द सुनता है तो चित्त को ही शब्द बनना पड़ता है। इस तरह देखता हूँ कि चित्त एक ऐसी वस्तु से बना है जिसका रूप या काम की धारा सम्पूर्ण रूप से अहंतत्त्व पर निर्भर करता है। या यों कहिए कि चित्त अहंतत्त्व के काम का फल होता है, अर्थात् अहंतत्त्व जब कुर्सी देखता है तो चित्त उसके देखने के फलस्वरूप कुर्सी का रूप धारण करता है और जब अहंतत्त्व शब्द सुनता है तो चित्त सुनने के फलस्वरूप शब्द बन जाता है। जब चित्त अहंतत्त्व के काम का फल हुआ और उसका रूप निर्भर करता है अहंतत्त्व के ऊपर, तो प्रश्न होता है कि यह किस चीज से बना है कि यह अहंतत्त्व की मर्जी से हर समय रूप बदलता रहता है। कहा जा चुका है कि मेरा चित्त मेरे मन का ही एक अंश है और अहंतत्त्व और बुद्धितत्त्व मन के और दो अंश हैं। यह

बुद्धितत्त्व और अहंतत्त्व मेरे ही अणुचैतन्य का विकाश है, अर्थात् अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्वगुण का फल है बुद्धितत्त्व और बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुण का फल है अहंतत्त्व। तो देखा जाता है कि मेरे अहंतत्त्व में भी मेरा अणुचैतन्य है क्योंकि अणुचैतन्य ही तो प्रकृति के गुण के कारण अहंतत्त्व तक उतर आया है। जब अहंतत्त्व में भी अणुचैतन्य है तो प्रकृति उसको भी गुणान्वित करेगी और करती है। देखता हूँ कि प्रकृति के गुण के ही कारण अणुचैतन्य से बुद्धितत्त्व तक परिवर्त्तन होता है, यानी अणुचैतन्य या ज्ञाता 'मैं' सोचता है कि 'मैं हूँ' या 'मेरा अस्तित्व है'। अब जो मैं अपना अस्तित्व प्रमाणित करता है या 'मैं हूँ' भाव से भावित होता है वह काम करना प्रारंभ करता है, अर्थात् मेरे देखने के काम की सृष्टि होती है। जब प्रकृति के गुण से अणुचैतन्य के भाव में परिवर्त्तन आता है, अर्थात् अणुचैतन्य बुद्धितत्त्व में और बुद्धितत्त्व अहंतत्त्व में परिवर्त्तित होता है; तो अहंतत्त्व को भी तो प्रकृति के गुणके कारण अपना भाव बदलना पड़ेगा।

तमोगुण

अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति जो गुण डालती है उसका नाम है तमोगुण। इसी तमोगुण के फलस्वरूप अहंतत्त्व को या जो मैं देखता है उस मैं को जिस चीज को वह देखता है उसी के भाव से भावित होना पड़ता है। अर्थात्, जब मैं कुर्सी देखता हूँ तो मुझे स्वयं ही कुर्सी के रूप

इससे चित्त की

सृष्टि होती है। मैं भावित होना पड़ता है, या मुझे स्वयं ही कुर्सी का रूप लेना पड़ता है। तो देखता हूँ कि प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव के फलस्वरूप एक ओर मैं की सृष्टि हुई। वही मैं निज को कुर्सी के रूप में सोचता है, अर्थात् वही मैं कुर्सी का रूप लेता है। यह 'मैं' जो कुर्सी का रूप लेता है अथवा कुर्सी के भाव से भावित होता है, चित्त नाम से पुकारा जाता है। इस तरह देखता हूँ कि चित्त अणुचैतन्य का ही विकाश है, यानी अणुचैतन्य स्वयं ही अपने को क्रमशः चित्त तक विकशित करता है।

आत्मा ने प्रकृति के गुण द्वारा निज को, चित्त तक विकशित किया है, यानी आत्मा से ही मन की सृष्टि हुई है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; युक्ति द्वारा देखा जाता है कि आत्मा या अणुचैतन्य ने स्वयं को ही प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर, चित्त तक विकशित किया जिसके फलस्वरूप मन की सृष्टि हुई। जब मन अणुचैतन्य के ही क्रम विकाश है, अर्थात् अणुचैतन्य ने ही जब क्रमशः प्रकृति के गुण द्वारा निज को मन तक रूपान्तरित किया है, तो मन के रहने से ही अणुचैतन्य या आत्मा भी रहेगी। फिर देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में मन है और जब मन रहने से ही आत्मा या अणुचैतन्य रहता है, तो प्रत्येक मनुष्य में आत्मा

प्रत्येक मनुष्य में आत्मा है।

या अणुचैतन्य है। इस पृथिवी पर करोड़ों मनुष्य हैं और जब प्रत्येक मनुष्य में आत्मा या अणुचैतन्य है, तो देखते हैं कि पृथ्वी पर करोड़ों आत्मा या करोड़ों अणुचैतन्य हैं। यह जो कोटि-कोटि आत्मा या अणुचैतन्य हैं इनका एकत्रित नाम है परमात्मा या भूमाचैतन्य या ब्रह्म या भगवान। जैसे, देखिए एक-एक करके जब चार एक होता है तो उसको एक गड्डा कहते हैं या अधिक सैनिक एक साथ होने से उसे सैन्यदल कहते हैं या अधिक लोगों को एक साथ मिला कर नाम देते हैं जनता, उसी तरह असंख्य आत्मा या अणुचैतन्य का एकत्रित नाम दिया गया है परमात्मा या भूमाचैतन्य या भगवान। अतः भगवान कहने से अगर मैं समझता हूँ कि वह मेरे ही समान हाथ पैर वाला एक बहुत बड़ा और बहुत शक्तिशाली पुरुष है, तो यह बात नहीं है। वह हम लोगों के अणुचैतन्य की ही समष्टि है। आत्मा को अंग्रेजी में सोल (soul) कहते हैं और अणुचैतन्य को कानसस्नेस् (consciousness) कहते हैं। अतः भगवान का अंग्रेजी अनुवाद हुआ universal soul या consciousness in its totality या

इसीलिए इस पृथ्वी पर करोड़ों आत्मा है। इन करोड़ों आत्माओं का ही सम्मिलित नाम है ब्रह्म या भगवान या universal soul या concious-ness in its totality.

universal consciousness. इस तरह यह साबित होता है कि भगवान है और वह हैं परमात्मा या भूमाचैतन्य या ब्रह्म ।

२

ब्रह्म क्या है ?

यह साबित हुआ कि भगवान है और यह भी साबित है कि भगवान है परमात्मा या भूमा चैतन्य या ब्रह्म या universal consciousness या consiousness in its totality.

(Consciousness or consciousness in its totality) यह जो भूमाचैतन्य है इसी को ज्ञान या प्रज्ञा या पुरुष कह कर भी पुकारते हैं। साधारणतः भाषा में पुरुष कहने से हमलोग मर्द समझते हैं, किन्तु दर्शन में पुरुष मर्द के अर्थ में व्यवहार नहीं होता है। इसमें हर जगह पुरुष का अर्थ चैतन्य या ज्ञान ही समझना होगा।

चैतन्य ही का एक और नाम है पुरुष

यह भी पहले कह चुके हैं कि प्रकृति चैतन्य या पुरुष की शक्ति विशेष है जिसके द्वारा पुरुष तत्त्व गुणान्वित होता है। सर्वदा पुरुष के साथ इस प्रकार जुटी हुई है कि उसको किसी भी प्रकार उससे पृथक नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ पहले ही आग और उसकी जलाने की शक्ति का विवरण दिया जा चुका है। जिस प्रकार आग और उसकी जलाने की शक्ति

को कोई भी अलग नहीं कर सकता है उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति को भी पृथक नहीं किया जा सकता है। इसलिए अगर प्रकृति और पुरुष बिलकुल अलग-अलग दो वस्तुएँ हैं, एक चैतन्य और एक शक्ति विशेष, तब भी इनको पृथक नहीं किया जा सकता है। जब इनको अलग–अलग नहीं किया जा सकता है तो जहाँ कहीं भी प्रकृति होगी वहाँ पुरुष रहेगा ही। अतएव, ब्रह्म कहने से प्रकृति और पुरुष का समन्वय समझना होगा कि ब्रह्म प्रकृति और पुरुष दोनों को मिलाकर हुआ।

पुरुष और प्रकृति का एकत्रित नाम ब्रह्म है।

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को मिला कर ब्रह्म हुआ। पुरुष ज्ञान है। ज्ञान या प्रज्ञा या चैतन्य कहने से एक कुछ है ऐसा भासता है, किन्तु उसका कोई आकार नहीं है। वह वह देखने में कैसा है अथवा सुनने में कैसा है, यह कोई नहीं कह सकता है, तो भी 'एक कुछ है' ऐसा मालूम होता है। तो यह हुआ कि चैतन्य को हमलोग केवल भावना द्वारा ही समझ सकते हैं। इसलिए चैतन्य एक भावमय वस्तु है। प्रकृति इसी भावमय वस्तु की शक्ति विशेष है। शक्ति जितना भी स्थूल हो, उसको कभी भी देख नहीं सकते हैं या उसका कैसा आकार है यह भी नहीं कहा जा सकता है। जैसे आग की जलाने की शक्ति। आग एक स्थूल वस्तु है अतः इसकी शक्ति भी स्थूल है। आग को देखते हैं,

किन्तु उसकी जलानेवाली शक्ति को क्या कभी देख सकते हैं ? तो यही पाते हैं कि शक्ति चाहे कितनी भी स्थूल क्यों न हो फिर भी वह सूक्ष्म ही है। अर्थात्, उसका कोई रूप नहीं है और न कोई उसको देख सकता है, न सुन सकता है। प्रकृति भी एक शक्ति विशेष होने के कारण एक भावमय वस्तु है। पुरुष एक भावमय वस्तु है, और उसकी शक्ति विशेष प्रकृति भी एक भावमय वस्तु है, अर्थात् दोनों ही सूक्ष्म हैं। तो ब्रह्म भी जो पुरुष और प्रकृति इन दोनों का मिलित नाम है, निश्चय ही सूक्ष्म या भावमय वस्तु है। ब्रह्म जब भावमय वस्तु है तो निश्चय ही उसका कोई आकार नहीं है अथवा वह देखने और सुनने में कैसा है यह भी नहीं कहा जा सकता है। अतएव, ब्रह्म को निराकार कहना ही पड़ता है।

ब्रह्म भावमय या सूक्ष्म है।

पहले ही कह चुके हैं कि अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्वगुण के फल से बुद्धितत्त्व की सृष्टि हुई है फिर बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुण के फलस्वरूप अहंतत्त्व की सृष्टि हुई, और अन्त में अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुण के कारण चित्त की सृष्टि हुई। चित्त की सृष्टि जब अहंतत्त्व पर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव से होता है, तो कहना ही पड़ता है

ब्रह्म अनादि है।

कि चित्त का अस्तित्व या स्थिति अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव पर निर्भर करती है, या यों कहिये की अगर प्रकृति अहंतत्त्व के ऊपर तमोगुणी प्रभाव न डाले तो चित्त की सृष्टि ही न होगी। तात्पर्य यह हुआ कि चित्त अपने अस्तित्व के लिये निर्भर करता है। अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव पर। इसीलिए देखा जाता है कि चित्त का अस्तित्व निरपेक्ष नहीं है। उसका अस्तित्व अहंतत्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव का सापेक्ष है। प्रकृति यदि अहंतत्व के ऊपर अपने तमोगुणी प्रभाव का विस्तार करती है तो चित्तकी सृष्टि होती है और अगर नहीं करती है तो चित्त की सृष्टि नहीं होती है। अतः यदि चित्त नहीं है, तो कहना पड़ता है कि प्रकृति अहंतत्त्व के ऊपर अपने तमोगुणी प्रभाव का विस्तार नहीं कर रही है, इसलिये चित्त की सृष्टि नहीं हो रही है। परन्तु चित्त के नहीं रहने से हम किसी भी हालत में यह नहीं कह सकते हैं कि अहंतत्व और प्रकृति नहीं है, क्योंकि चित्त की सृष्टि तब होती है जब प्रकृति अहंतत्त्व के ऊपर तमोगुण का प्रभाव डालती है। अतः अहंतत्त्व का अस्तित्व चित्त का निरपेक्ष है, यानी चित्त पर निर्भर नहीं करता है। ठीक इसी युक्ति से कहा जा सकता है कि अहंतत्त्व का अस्तित्व बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव का सापेक्ष है और बुद्धितत्त्व का अस्तित्व अहंतत्त्व का निरपेक्ष है, यानी अहंतत्त्व पर निर्भर नहीं करता है। फिर बुद्धितत्त्व का अस्तित्व अणुचैतन्य के

ऊपर प्रकृति के सत्वगुण का सापेक्ष है और अणुचैतन्य का अस्तित्व बुद्धितत्त्व का निरपेक्ष है, यानी बुद्धितत्त्व पर निर्भर नहीं करता है। तो देखा जाता है कि चित्त का अस्तित्व अहंतत्त्व का सापेक्ष है, यानी अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव पर निर्भर करता है, अहंतत्त्व का अस्तित्व बुद्धितत्त्व का सापेक्ष है, यानी बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव पर निर्भर करता है, और फिर बुद्धितत्त्व का अस्तित्व अणुचैतन्य का सापेक्ष है, यानी अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्वगुणी प्रभाव पर निर्भर करता है। फिर यह भी देखते हैं कि अहंतत्त्व चित्त का निरपेक्ष है, यानी अहंतत्व का अस्तित्व चित्त पर निर्भर नहीं करता है। बुद्तित्व अहंतत्व निरपेक्ष है और अन्त में अणुचैतन्य बुद्धितत्व निरपेक्ष है, यानी अणुचैतन्य का अस्तित्व बुद्धितत्त्व पर निर्भर नहीं करता है। अणुचैतन्य बुद्धितत्त्व निरपेक्ष है या इसका अस्तित्व बुद्धितत्व पर निर्भर नहीं करता है, अर्थात् बुद्धितत्त्व न भी रहे तब भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि अणुचैतन्य नहीं है। जैसे, एक लोहे की कड़ाही लीजिये। लोहा को पीटकर कड़ाही बनाया गया है। अतः कड़ाही का अस्तित्व लोहा का सापेक्ष है, यानी कड़ाही का अस्तित्व लोहे के ऊपर निर्भर करता है। अर्थात्, लोहा न होने से कड़ाही होगी ही नहीं। इसलिये कड़ाही का अस्तित्व लोहा का सापेक्ष है। किन्तु ऐसा कहने से क्या हम कह

सकते हैं कि कड़ाही न रहने से लोहा भी न रहेगा ? कड़ाही लोहे से बनी है इसलिये यह लोहा का सापेक्ष है। कड़ाही नहीं रहने पर भी लोहा रहता है। अतः लोहा कड़ाही का निरपेक्ष है। ठीक इसी तरह अणुचैतन्य बुद्धितत्त्व का निरपेक्ष है। चित्त से लेकर बुद्धितत्त्व तक सभी इसके सापेक्ष हैं, अर्थात् इन सबों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है, किन्तु अणुचैतन्य पर जब आते हैं तो देखते हैं कि यह किसी का सापेक्ष नहीं है। खोजने से भी कोई ऐसा नहीं मिलता है कि किस पर इसका अस्तित्व निर्भर करता है। जब अणुचैतन्य का अस्तित्व किसी पर निर्भर नहीं करता है तो कहना ही पड़ता है कि अणुचैतन्य का अस्तित्व निरपेक्ष है, या उसका अस्तित्व किसी का भी सापेक्ष नहीं है।

जिस किसी वस्तु का अस्तित्व एक दूसरी वस्तु पर निर्भर करता है, अर्थात् जो वस्तु एक दूसरी वस्तु का सापेक्ष है वह कभी भी अनादि नहीं हो सकती है। अनादि से अर्थ है—जिसका आदि या जड़ नहीं है। जो वस्तु एक दूसरी वस्तु का सापेक्ष है, यानी जिस वस्तु का अस्तित्व एक दूसरी वस्तु पर निर्भर करता है उसको अनादि या उसकी जड़ नहीं है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ? लोहा की कड़ाही लोहा का सापेक्ष है, अथवा लोहे की कड़ाही की उत्पत्ति लोहा से है। अतएव, लोहा की कड़ाही की जड़ या आदि लोहा है। जब लोहा कड़ाही की जड़ या आदि है, तो भला कड़ाही अनादि कैसे कही जा

सकती है ? इससे हम कह सकते हैं कि जिस वस्तु का अस्तित्व किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर करता है, या जो किसी दूसरी वस्तु का सापेक्ष है वह कभी भी अनादि नहीं हो सकती है। चित्त से लेकर बुद्धितत्त्व तक सभी किसी दूसरी वस्तु के सापेक्ष हैं, अतएव ये सभी अनादि नहीं हैं। जब देखते हैं कि जिसका अस्तित्व अन्य का सापेक्ष है वह कभी भी अनादि नहीं हो सकता है, तो कहना ही होगा कि जिसका अस्तित्व एकदम निरपेक्ष है, यानी किसी पर भी निर्भर नहीं करता है, वह अनादि है। ऊपर साबित किया जा चुका है कि अणुचैतन्य अस्तित्व निरपेक्ष है और बहुत खोजने पर भी अणुचैतन्य का सापेक्ष, यानी अणुचैतन्य अपने अस्तित्व के लिए किस पर निर्भर करता है, नहीं पाया जाता है। अतः कहना पड़ता है कि अणुचैतन्य पूर्ण रूप से निरपेक्ष है, अर्थात् उसका अस्तित्व किसी पर भी निर्भर नहीं करता है। जिसका अस्तित्व निरपेक्ष है वह अनादि है अतः अणुचैतन्य अनादि है। अणुचैतन्य जब अनादि है तो भूमा चैतन्य या पुरुष अवश्य ही अनादि है, क्योंकि भूमा-चैतन्य या पुरुष तो अणुचैतन्य की ही समष्टि का नाम है। ऊपर कह आए हैं कि प्रकृति पुरुष की ही शक्ति विशेष है और पुरुष के रहने से प्रकृति भी रहेगी ही। प्रकृति पुरुष की शक्ति विशेष है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रकृति पुरुष से पैदा हुई है। प्रकृति को पुरुष ने पैदा या सृष्ट

नहीं किया है। जैसे, आग और उसकी जलाने की शक्ति दोनों ही सम्पूर्ण अलग-अलग चीजें हैं लेकिन एक के बिना दूसरी नहीं रह सकती है। किन्तु क्या ऐसा कहने से आग अपनी जलानेवाली शक्ति का पैदा करनेवाली कहलायेगी? कभी नहीं। थोड़ा सोच कर देखने से पाते हैं कि आग की जलाने की शक्ति आग का ही गुण है, किन्तु इसको आग पैदा नहीं करती है। जैसे आग अपनी जलानेवाली शक्ति की जननी नहीं है वैसे ही पुरुष ने भी प्रकृति को पैदा नहीं किया है। जो पुरुष प्रकृति के गुण से गुणान्वित हुए बिना अपने अस्तित्व का बोध भी नहीं कर सकता है भला वह प्रकृति को कैसे पैदा कर सकता है? इससे यह साबित होता है कि प्रकृति पुरुष से पैदा नहीं हुई है। प्रकृति जब पुरुष से पैदा नहीं हुई है तो फिर उसको किसने पैदा किया? अनादि पुरुष जब प्रकृति की सृष्टि नहीं करता है और पुरुष को छोड़ जब अन्य किसी को भी नहीं पाते हैं, तो कहना ही पड़ता है कि प्रकृति का अस्तित्व पूर्णरूप से निरपेक्ष है। आगे कह आए हैं कि जिसका अस्तित्व निरपेक्ष है वह अनादि है, अतएव प्रकृति भी अनादि है। पुरुष भी अनादि है और प्रकृति भी अनादि है। जब इन दोनों का मिलित नाम ब्रह्म है तो ब्रह्म भी निश्चय ही अनादि है।

यह साबित हुआ कि ब्रह्म अनादि है, अर्थात् उसकी जड़ नहीं है। अब देखें ब्रह्म का अन्त कहाँ है और वह कितना बड़ा है।

ब्रह्म कितना बड़ा है या ब्रह्मका अन्त कहाँ है,यह जानने के लिए ब्रह्म को नापने की आवश्यकता है। यदि ब्रह्मको नहीं नापा जाय तो भला यह कैसे जाना जा सकता है कि ब्रह्म कितना बड़ा है और उसका अन्त कहाँ है? किसी चीज को नापने के लिए नापने वाले यंत्र की आवश्यकता होती है। विभिन्न प्रकारकी वस्तुओं को नापने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यंत्रों की आवश्यकता होती है। जैसे, जमीन नापने के लिए हाथ अथवा लग्गा, तरल पदार्थ अथवा भोजन की सामग्रियां नापने के लिए सेर, छटाक, मन,इत्यादि वायुका दबाव नापने के लिए बैरोमिटर तथा गर्मी नापने के लिए थर्मोमिटर चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो वस्तु जैसी है उसके नापने का यंत्र भी वैसा ही है। कहा जा चुका है कि ब्रह्म एक सूक्ष्म तथा भावमय वस्तु है। अतएव, ब्रह्म को नापने के लिए सूक्ष्म तथा भावमय यंत्र की आवश्यकता है। तो अब देखें संसार में ब्रह्म को छोड़ कर और कौन-सी वस्तु सूक्ष्म तथा भावमय है जिससे ब्रह्म को नापने का यंत्र तैयार किया जा सकता है या जिसके द्वारा ब्रह्म नापा जा सकता है। साधारणतः संसार में हमलोग आकाश, वायु, अग्नि, जल और मिट्टी पाते हैं जिससे यह स्थूल जगत बनी है। कोई वस्तु स्थूल है अथवा सूक्ष्म, यह पहचानने के लिए देखना होगा कि उसका तन्मात्र है या नहीं। स्थूल वस्तु में तन्मात्र अवश्य रहेगा और सूक्ष्म वस्तु में नहीं

ब्रह्म असीम और अनन्त है।

रहेगा। अतएव, जिस वस्तु में तन्मात्र नहीं है वह सूक्ष्म है और जिसमें जितना अधिक तन्मात्र है वह उतना ही अधिक स्थूल है। सब मिलाकर तन्मात्र पांच हैं यथा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। आकाश महाशून्य है, अर्थात् कुछ भी नहीं है। किन्तु इसमें शब्द तन्मात्र है इसलिए यह स्थूल है। वायु में शब्द और स्पर्श दोनों हैं, अर्थात् इसके द्वारा शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है और इसके स्पर्श का भी अनुभव होता है। अतः यह आकाश से भी अधिक स्थूल है। इसके बाद अग्नि, जल और मिट्टी हैं। इन सबों को हम देख सकते हैं अतः इन में रूप तन्मात्र है। इसलिए ये सब आकाश और वायु से भी स्थूल हैं, क्योंकि इनमें और तन्मात्र को छोड़कर शब्द और स्पर्श तन्मात्र भी हैं। अतएव, हम देखते हैं कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और मिट्टी ये सभी स्थूल पदार्थ हैं। यह कह चुके हैं कि ब्रह्म सूक्ष्म है इसलिए उसको नापने के लिए सूक्ष्म यंत्र की आवश्यकता है। अतः जब आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा मिट्टी, सभी स्थूल हैं तो इनसबों से ब्रह्म नापने का यंत्र कभी भी तैयार नहीं किया जा सकता है। आकाश, अग्नि, वायु, जल और मिट्टी, इन पांच वस्तुओं को छोड़कर संसार में हम एक और वस्तु पाते हैं जिसको मन अथवा अन्तःकरण कहते हैं। अब देखना चाहिए कि मन अथवा अन्तःकरण स्थूल है या सूक्ष्म। मन है, यह समझते हैं, किन्तु खोजने पर भी इसका कोई तन्मात्र नहीं पाते हैं।

अतएव, मन जब है लेकिन उसका तन्मात्र नहीं है तो अवश्य ही यह सूक्ष्म है, क्योंकि पहले ही कह चुके हैं कि जिस वस्तु का कोई तन्मात्र नहीं है वह सूक्ष्म है। तो इस संसार में सूक्ष्म वस्तु केवल मन अथवा अन्तःकरण है। मन को छोड़ कर सभी चीजें स्थूल हैं। मन ही जब संसार में एकमात्र सूक्ष्म वस्तु है तो केवल उसी से सूक्ष्म को नापने का यंत्र तैयार किया जा सकता है। मन सूक्ष्म है अतः इसका कोई भी तन्मात्र नहीं है। जिसका तन्मात्र नहीं है वह देखा सुना नहीं जा सकता है और जो वस्तु देखने सुनने से बाहर है भला उससे नापने का यंत्र कैसे तैयार किया जा सकता है? तो हम देखते हैं कि सूक्ष्म मन के द्वारा ब्रह्म नापने का कोई भी यंत्र नहीं बनाया जा सकता है। मन सूक्ष्म तथा भावमय वस्तु है अतः मन का धर्म है भावना या चिन्ता करना। ब्रह्म को नापने का यंत्र जब सूक्ष्म मन से नहीं बनाया जा सकता है तो मन का एकमात्र उपाय रह जाता है उसका धर्म, यानी भावना अथवा चिन्ता द्वारा ब्रह्म को नापना। अब देखें कि मन चिन्ता अथवा भावना द्वारा ब्रह्म को नाप सकता है या नहीं। कहा जा चुका है कि मन बना है बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन तीनों को मिलाकर और अणुचैतन्य मन से बाहर है। अणु चैतन्य को प्रकृति गुणान्वित करती है, फलतः सृष्टि होती है बुद्धितत्त्व की। फिर बुद्धितत्त्व के गुणान्वित होने से अहंतत्त्व और अहंतत्त्व के गुणान्वित होने से चित्त की सृष्टि होती है। यह भी कहा

जा चुका है कि मन का अहंतत्त्व ही काम करता है। अतः ब्रह्म को मन के अहंतत्त्व द्वारा नापना होगा, यानी जो 'मैं' काम करता है वही 'मैं' ब्रह्म को नापने का काम करेगा। अणुचैतन्य और अहंतत्त्व के बीच में बुद्धितत्त्व है। अतएव, अहंतत्त्व को अणुचैतन्य तक पहुँचने के लिए बुद्धितत्त्व के भीतर से होकर जाना होगा। अणुचैतन्य को नापने के लिए अहंतत्त्व जब बुद्धितत्त्व के भीतर आता है तो अहंतत्त्व का अपना अस्तित्त्व रह कहाँ जाता है? "मैं हूँ" का भाव है बुद्धितत्त्व और जो "मैं हूँ" वह "मैं" जब समझता है कि मैं काम कर रहा हूँ उस समय अहंतत्त्व की सृष्टि होती है। अब जो मैं हूँ वह अगर भावना द्वारा काम न करे तभी न अहंतत्त्व बुद्धितत्त्व के भीतर जा कर रह सकता है। ऐसा नहीं होने से अहंतत्त्व को फिर बुद्धितत्त्व से बाहर चला आना पड़ता है। अहंतत्त्व को बुद्धितत्त्व के भीतर जाने ही से अहंतत्त्व का अस्तित्व लोप हो जाता है, फलतः मन काम नहीं कर सकता है। तब जो मन काम ही नहीं कर सकता है, भला वह ब्रह्म को नापने का काम कैसे करेगा? अहंतत्त्व जब बुद्धितत्त्व के भीतर जाता है तो उस समय केवल "मैं हूँ" का भाव रह जाता है और रहता है अणुचैतन्य। मैं हूँ का भाव यानी बुद्धितत्त्व तो कोई काम करता नहीं है, काम तो करता है मन का अहंतत्त्व। अतः केवल बुद्धितत्त्व के रहने से भला मन अणुचैतन्य को कैसे नाप सकता है? तो देखा जाता

है कि हम लोगों का मन भावना या चिन्ता द्वारा अणुचैतन्य के पास तक भी नहीं जा पाता है, क्योंकि अहंतत्त्व, जो चिन्ता करने का काम कर रहा है, बुद्धितत्त्व तक जाते ही अपना अस्तित्व खो बैठता है। फलस्वरूप, वह और चिन्ता नहीं कर पाता है, यानी उसकी चिन्ता करनेवाली शक्ति का अन्त हो जाता है। चिन्ता या भावना द्वारा मन जब अणुचैतन्य के पास तक नहीं पहुँच पाता है, तो भला वह उसको नाप कैसे सकता है ? ब्रह्म है अणुचैतन्य की ही समष्टि। मन जब समष्टि के एक अणु अंश को नहीं नाप सकता है तो वह सम्पूर्ण को कैसे नाप सकेगा ? अतएव, मन भावना या चिन्ता करने से ब्रह्म को नहीं नाप सकता है। तो देखा जाता है कि अहंतत्त्व की अर्थात् मन का जो अंश काम करता है, उसकी, काम करने की शक्ति या धारणा करने की शक्ति सीमित है, क्यों कि वह बुद्धितत्त्व और अणुचैतन्य को चेष्टा करके (चिन्ता या भावना द्वारा) नहीं जान सकता है। बुद्धितत्त्व को नापने जाने पर वह अपना ही अस्तित्व लोप कर देता है। तो देखा जाता है कि हमलोगों के मन (अहंतत्त्व) की सीमा के बाहर भी कुछ रह जाता है। हमलोग मन (अहंतत्त्व) की सीमा के भीतर जो कुछ पाते हैं उसको नाप कर उसकी सीमा ठीक कर सकते हैं और उसके कोने-कोने को जान सकते हैं। किन्तु जो वस्तु हमारे मन की सीमा (scope) के बाहर है उसको तो कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

असीम का अर्थ है जिसकी सीमा न हो और अनन्त का अर्थ है जिसका शेष न हो। किसी वस्तु की सीमा, मन तभी ठीक कर सकता है जब वस्तु का अस्तित्व मन के पहुँच के भीतर रहता है। किन्तु जिसका अस्तित्त्व मन के पहुँच के बाहर है उसकी सीमा मन कैसे ठीक कर सकता है? फिर कौन वस्तु का अन्त कहाँ है, यह देखने के लिए उस वस्तु को मन की सीमा के भीतर होनी चाहिए। किन्तु जिसकी सीमा मन की पहुँच के बाहर है उसका अन्त कहाँ है, यह मन कैसे बता सकता है? अतः जो वस्तु मन के पहुँच से बाहर है उसकी सीमा मन ठीक नहीं कर सकता है और उसका अन्त कहाँ है, यह भी मन नहीं बता सकता है। इसलिए ऐसी वस्तु को अनन्त या असीम कहते हैं, अर्थात् उसका अस्तित्व मन की सीमा या पहुँच से बाहर है। सृष्टि ब्रह्म का अंश है (इसके बाद वाले परिच्छेद में इसका विवरण मिलेगा)। सृष्टि के भीतर मन (अहंतत्त्व) को उसकी अन्तिम सीमा तक ले जाकर देखते हैं कि उसके भी बाहर कुछ रह जाता है जिसको मन ग्रहण नहीं कर पाता है, यानी वह मन की शक्ति के बाहर है। सृष्टि मन की सीमा के बाहर चला जाता है, अतः सृष्टि असीम या अनन्त है। सृष्टि जब ब्रह्म का एक अंश है और अंश ही जब अनन्त है, तो ब्रह्म अवश्य ही अनन्त है।

पुरुष और प्रकृति इन दोनों को मिलाकर ब्रह्म है। कह

चुके हैं कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं, अर्थात्

ब्रह्म स्वरूप में पुरुष और प्रकृति दोनों स्वाधीन हैं।

पुरुष और प्रकृति दोनों ही का अस्तित्त्व निरपेक्ष है। जब पुरुष और प्रकृति का अस्तित्त्व निरपेक्ष है, अर्थात् वे अपने-अपने अस्तित्व के लिए अन्य किसी पर भी निर्भर नहीं करते हैं, तो कहना ही पड़ता है कि वे दोनों स्वाधीन हैं। उनमें से कोई भी किसी के अधीन नहीं है, यानी पुरुष प्रकृति के अधीन नहीं है और प्रकृति भी पुरुष के अधीन नहीं है। ब्रह्म की वह अवस्था जहाँ पुरुष और प्रकृति दोनों ही स्वाधीन हैं, ब्रह्म का स्वरूप या असली रूप है, क्योंकि वे दोनों ही अनादि हैं। तो हम ब्रह्म स्वरूप यानी ब्रह्म के असल रूप में पुरुष और प्रकृति दोनों ही को स्वाधीन पाते हैं, यानी इन में से कोई भी किसी के वश में नहीं है। प्रकृति एक शक्ति विशेष है जिसका काम है पुरुष को गुणान्वित करना। साधारणतः गुण शब्द का अर्थ है निपुणता या सिफत (Qualification), किन्तु दर्शन में गुण शब्द का व्यवहार इस अर्थ में नहीं किया गया है। दर्शन में गुण शब्द का अर्थ है बांधने की डोरी—जैसे नौका का गुण। अतएव, गुणान्वित करने का अर्थ है डोरी से बांधना। 'प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है' का अर्थ है कि प्रकृति पुरुष को डोरी से बांधकर उसको अपनी इच्छानुसार चलाती है। ब्रह्मस्वरूप में पुरुष जब स्वाधीन है, तो प्रकृति उसको गुणान्वित कैसे कर सकती है, यानी डोरी से कैसे बांध

सकती है ? अतः ब्रह्म स्वरूप में प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाता है, किन्तु वह उसके साथ ही रहती है क्योंकि ब्रह्म प्रकृति और पुरुष को मिलाकर है। जैसे, एक आदमी सो रहा है कहने से क्या समझते हैं ? समझते हैं कि उसकी शक्ति अथवा उसका गुण सो रहा है किन्तु, क्या वह उस आदमी के भीतर नहीं है। अवश्य ही उस आदमी की शक्ति अथवा उसका गुण उसी के भीतर है लेकिन सो रहा है, यानी वह कोई काम नहीं करता है या कर नहीं सकता है। इसी तरह ब्रह्म स्वरूप में हम प्रकृति को निष्क्रिय पाते हैं, यानी वह कोई काम नहीं कर पाती है या नहीं करती है। प्रकृति का काम है पुरुष को गुणान्वित करना। वह जब काम नहीं करती है तो पुरुष भी गुणान्वित नहीं होता है। ब्रह्म की इस अवस्था को, जिसमें प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर सकती है, यानी पुरुष गुण रहित या गुणातीत या गुणहीन रहता है, निर्गुण ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं। तो देखते हैं कि निर्गुण ब्रह्म ही ब्रह्म स्वरूप है जहां पुरुष प्रकृति से गुणान्वित नहीं है। ब्रह्म स्वरूप में या निर्गुण ब्रह्म में प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर सकती है या नहीं करती है। प्रकृति एक शक्ति विशेष है और उसका एकमात्र काम है पुरुष को गुणान्वित करना। जब प्रकृति का एकमात्र काम ही है पुरुष को गुणान्वित करना, तो निर्गुण ब्रह्म में वह पुरुष को क्यों गुणान्वित नहीं कर पाती है या नहीं करती है ? निर्गुण

निर्गुण ब्रह्म ही ब्रह्म स्वरूप है।

में जब प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर सकती है, तो, या तो वह सो रही है या पुरुष से कम शक्तिशालिनी है जिसके कारण वह पुरुष पर अपने गुण का विस्तार नहीं कर पाती है। देखें ब्रह्मस्वरूप में प्रकृति सो रही है या नहीं। प्रकृति जब अनादि है और वह ब्रह्म स्वरूप में यदि सो रही है, तो कहना पड़ेगा कि सुषुप्तावस्था ही प्रकृति का असल रूप है। फिर तो पुरुष को गुणान्वित करने के लिए उसको जगाना पड़ेगा। तब प्रश्न होता है कि पुरुष को गुणान्वित करने के लिए प्रकृति को जगाएगा कौन ? पुरुष और प्रकृति को छोड़ कर जब और किसी का अस्तित्व ही नहीं है तो प्रकृति को जगाएगा कौन ? प्रकृति सुषुप्तावस्था में है और पुरुष प्रकृति के गुण से गुणान्वित नहीं होने से अपने अस्तित्व का बोध भी नहीं कर पाता है। ऐसी दशा में प्रकृति को कौन जगाएगा ? यदि अनादिकाल से ही प्रकृति का स्वरूप सुषुप्त है तो उसे जगाने के लिए अन्य किसी का अस्तित्व भी तो हम नहीं पाते हैं। फिर हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि प्रकृति सुषुप्त है, क्योंकि प्रकृति के ही गुण से गुणान्वित हो कर अणुचैतन्य से बुद्धितत्त्व की सृष्टि होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति जाग्रत है। वह यदि निर्गुण में सो रही है तो उसको जगाने के लिए हम अन्य किसी का भी अस्तित्व नहीं पाते हैं। अतएव, विवश होकर कहना ही पड़ता है कि निर्गुण में भी प्रकृति जाग्रत है। प्रकृति जब शक्ति विशेष है जिसका काम है पुरुष को गुणान्वित

करना और इसी भाव से वह अनादि काल से है, तो निर्गुण में इस भाव को वह कैसे सुषुप्त रक्खेगी ? अतएव, देखते हैं कि निर्गुण में प्रकृति सुषुप्त नहीं है बल्कि जाग्रत है। निर्गुण में प्रकृति जब सोई हुई नहीं हैं और पुरुष भी जब गुणान्वित नहीं होता है तो विवश होकर कहना ही पड़ता है कि निर्गुण में प्रकृति पुरुष से निश्चय ही कम शक्तिशालिनी है, जिसके कारण वह पुरुष पर अपना गुण विस्तार नहीं कर पाती है। अतएव, ब्रह्म स्वरूप में अथवा निर्गुण ब्रह्म में हम प्रकृति को पुरुष की अपेक्षा कम शक्ति शालिनी पाते हैं जिसके कारण प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है। अर्थात् , पुरुष स्वभाव से ही प्रकृति से अधिक शक्तिशाली है जिसके कारण प्रकृति उसको गुणान्वित नहीं कर पाती है। अपनी दुर्बलता के ही कारण प्रकृति अपने गुणका पुरुष पर विस्तार नहीं कर पाती है, इसीलिए पुरुष निर्गुण या गुणरहित या गुणहीन हो जाता है। तो हम देखते हैं कि ब्रह्म की जिस अवस्था में प्रकृति अपनी दुर्बलता के कारण को पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है या पुरुष जहाँ प्रकृति द्वारा गुणान्वित नहीं होता है, उसी का नाम है निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप या असली रूप।

निर्गुण में प्रकृति अपनी दुर्बलता के कारण पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है। ब्रह्म स्वरूप में प्रकृति पुरुष की अपेक्षा दुर्बल है।

जहाँ पुरुष प्रकृति के गुण से गुणान्वित नहीं है, ब्रह्म की

इस अवस्था को निर्गुण या गुणहीन पुरुष कहते हैं। उसी तरह जहाँ पुरुष प्रकृति के गुण से गुणान्वित होता है, उसका नाम सगुण ब्रह्म या गुणयुक्त पुरुष है। सगुणब्रह्म ब्रह्म की ही एक अवस्था है जहाँ पुरुष प्रकृति के गुण से गुणान्वित है, अर्थात् जहाँ प्रकृति पुरुष पर अपना गुण विस्तार करती है। सगुणब्रह्म, यानी जहाँ प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है, कहने से प्रश्न उठता है कि निर्गुण ब्रह्म ही जब ब्रह्मका स्वरूप है या असल रूप है तो सगुण ब्रह्म क्या है? फिर यह प्रश्न भी उठता है कि निर्गुण ब्रह्म में जब पुरुष स्वभावतः प्रकृति की अपेक्षा शक्तिशाली है तो सगुण में प्रकृति कैसे उसको गुणान्वित करती है। अर्थात्, सगुण की सृष्टि कैसे होती है?

सगुण ब्रह्म।

निर्गुण और सगुण एक ही ब्रह्म की दो अवस्थाएं है। निर्गुण में पुरुष और प्रकृति दोनों हैं, किन्तु प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है। सगुण में भी पुरुष प्रकृति दोनों हैं किन्तु इसमें प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है। पुरुष और प्रकृति की अवस्था में जो भिन्नता है उस भिन्नता के ही कारण एक को निर्गुण और दूसरे को सगुण ब्रह्म कहते हैं। जैसे, देखिए, राम सोया है और राम जगा हुआ है। यह जो राम का सोना और जागना है ये तो राम ही की दो अवस्थाएं हैं। एक अवस्था में वह

निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ब्रह्म की ही दो अवस्थाएं हैं।

जागता है और दूसरी अवस्था में वह सोता है। अतएव, राम जगा हुआ है और राम सोया हुआ है, कहने से दो राम अलग अलग नहीं बुझाता है। एक ही राम की दो विभिन्न अवस्थाएं मालूम पड़ती हैं। ठीक इसी तरह निर्गुण ब्रह्म कहने से दो ब्रह्म नहीं बुझाता है, एक ही ब्रह्म की दो अवस्थाएं जान पड़ती हैं। जहाँ प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है उस अवस्था का नाम है सगुण ब्रह्म और जहाँ प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है उस अवस्था का नाम है निर्गुण ब्रह्म।

कहा जा चुका है कि अणुचैतन्य को प्रकृति ज्यों ही गुणान्वित करती है त्योंहीं बुद्धितत्त्व की सृष्टि होती है। अनन्तसंख्यक अणुचैतन्य ही जब भूमा चैतन्य या परम पुरुष हैं, तो निश्चय ही ये दोनों समधर्मी हैं। इन दोनों में अन्तर केवल रूप का है अर्थात् यह है अणु और वह है अनन्त। भूमाचैतन्य और अणुचैतन्य समधर्मी होने के कारण प्रकृति के गुण से गुणान्वित हो कर भूमा चैतन्य से भी अणुचैतन्य जैसा ही बुद्धितत्त्व की सृष्टि होती है। तो देखते हैं कि पुरुष जिस समय प्रकृति के

गुण से गुणान्वित है उसी समय सृष्टि

सगुण ब्रह्म ही की उत्पत्ति होती है। पुरुष जहां प्रकृति के

जगत की सृष्टि गुण से गुणान्वित है उसका नाम हमलोग

का कारण है। सगुणब्रह्म रखते हैं। अतएव, सगुणब्रह्म

से ही इस जगत की सृष्टि हुई है। या जगत

सृष्टि का कारण सगुणब्रह्म है।

सगुण ब्रह्म जब सृष्टि का कारण है, और आँख से देखते हैं कि सृष्टि है, तो कहना ही पड़ता है कि सगुण ब्रह्म है। अर्थात् प्रकृति पुरुष को निश्चय ही गुणान्वित करती है। कहा जा चुका है कि निर्गुण ब्रह्म में पुरुष की प्रबलता के कारण यानि शक्तिशाली होने के कारण प्रकृति उसको गुणान्वित नहीं कर पाती है। जब सगुण ब्रह्म में पुरुष को प्रकृति गुणान्वित करती है, तो सगुण ब्रह्म में या तो पुरुष प्रकृति से दुर्बल है या निर्गुण ब्रह्म की प्रकृति से सगुण ब्रह्म की प्रकृति अधिक शक्तिशालिनी है जिसके कारण वह सगुण अवस्था में पुरुष को गुणान्वित कर पाती है। प्रकृति एक शक्ति विशेष है, अतएव उसको सब जगहों में समान भाव से ही रहनी पड़ती है। जैसे देखिए, एक एक मील लम्बा तार के भीतर से ४४० वोल्ट की विद्युत् शक्ति चलती है। इस तार में जहाँ भी देखिए ४४० वोल्ट की ही शक्ति मिलेगी, उसमें ज्यादा या कम शक्ति कहीं भी नहीं मिलेगी। प्रकृति एक शक्ति विशेष होने के कारण उसी विद्युत् शक्ति की तरह सब जगहों में समान भाव से शक्ति का व्यवहार करती है। अतः सगुण ब्रह्म में वह अपनी शक्ति को बढ़ाएगी, यह प्रश्न ही नहीं उठता है। सगुण में जब प्रकृति की शक्ति नहीं बढ़ती है तो कहना ही पड़ता है कि पुरुष स्वयं ही प्रकृति से कम शक्तिशाली हो गया है जिसके कारण प्रकृति उसको गुणान्वित करती है। अनन्त ब्रह्म में

अनन्त ब्रह्म के कुछ हिस्से में पुरुष की अवस्था दुर्बल होने के कारण ही सगुण ब्रह्म को सृष्टि होती है।

पुरुष कहीं घन अवस्था (Condensed form) में है और कहीं अघन अवस्था (less Condensed form) में है। अर्थात्, अनन्त ब्रह्म में विराट् पुरुष का चैतन्य कहीं अधिक और कहीं कम है। जहाँ उसका चैतन्य कम है या जहाँ वह अघन † अवस्था में है वहाँ प्रकृति उसको कम शक्तिशाली पाकर गुणान्वित करती है, फलस्वरूप सृष्टि होती है। पुरुष जहाँ घन अवस्था में है या जहाँ उसका चैतन्य अधिक है वहाँ प्रकृति

---

† पुरुष क्यों अघन अवस्था में था अथवा प्रकृति ने कब से पुरुष को बाँधने की चेष्टा की थी, यह प्रश्न नहीं उठता है। इसका कारण यह है कि कार्य-कारण-तत्व तो मानसिक क्रियामात्र है। सगुण ब्रह्म की सृष्टि के पहले व्यष्टि या समष्टि मन नहीं रहने के कारण (महत्तत्व आदि सृष्ट नहीं होने के कारण) कार्य-कारण-तत्व भी वहाँ नहीं था। अतः ब्रह्म की उत्पत्ति का कारण अनुसन्धान करना, क्या मन की सीमा के बाहर की बात नहीं है ? वेद में (नासदीय सुक्त) कहा गया है कि ब्रह्म की उत्पत्ति का कारण स्वयं ब्रह्म भी नहीं जानते होंगे। यह बात सत्य है। यदि ब्रह्म भी स्वयं अपनी उत्पत्ति का कारण जानते तो इसका परिणाम यह होता कि ब्रह्म अनादि नहीं होता और अगर वह अनादि नहीं होता तो वह कार्य-कारण-तत्व की सीमा में बँध जाता, इसके फलस्वरूप उनको और भी अन्य परवर्ती कार्यों की सृष्टि करनी होती और इस प्रकार अनन्तत्व भी नष्ट हो जाता।

कुछ नहीं कर पाती है, फलतः पुरुष गुणान्वित नहीं होता है– इसी का नाम निर्गुण ब्रह्म है।

ब्रह्म अनन्त है और उसका स्वरूप निर्गुण है, अतः निर्गुण ब्रह्म अनन्त है। इसी ब्रह्म के कुछ हिस्से में पुरुष अघन अवस्था में है, इसलिए प्रकृति उसको गुणान्वित करती है, फलतः हमलोग सगुण देखते हैं। सगुण ब्रह्म जब ब्रह्म के कुछ हिस्से में है, तो कहना पड़ता है कि सगुण ब्रह्म निश्चय ही निर्गुण ब्रह्म के भीतर है—जैसे एक महासमुद्र के भीतर एक बर्फ का पहाड़। महासमुद्र में हवा पानी की गड़बड़ी के कारण महासमुद्र का कुछ जल जम कर बर्फ का पहाड़ बन जाता है और उसके चारो तरफ महासमुद्र का जल ठीक ही रहता है। ठीक इसी प्रकार अनन्त निर्गुण ब्रह्म के कुछ हिस्से में पुरुष अघन अवस्था में रहने के कारण प्रकृति के गुण से गुणान्वित होता है, फलतः सगुण ब्रह्म पाते हैं। अतएव, हम देखते हैं कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म के ही भीतर है।

सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म के ही भीतर अवस्थित है।

अनन्त ब्रह्म के कुछ हिस्से में पुरुष अघन अवस्था में है इसलिये वह प्रकृति से दुर्बल है। फलस्वरूप, प्रकृति उसको गुणान्वित करती है जिसके कारण हमलोग सगुण ब्रह्म पाते हैं। फिर यह भी देखते हैं कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म के भीतर ही है। तो अब देखें सगुण ब्रह्म क्या है? जहाँ पुरुष प्रकृति के गुण से गुणान्वित होता है वहाँ उसको सगुण ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म के

स्वरूप में पुरुष गुणान्वित नहीं होता है, और सगुण में गुणान्वित होता है, इसलिए सगुण ब्रह्म को हम ब्रह्म स्वरूप नहीं कह सकते हैं। फिर भी पुरुष और प्रकृति दोनों के रहने के कारण हम सगुण को भी ब्रह्म ही कहते हैं। उदाहरणार्थ देखिए, महासमुद्र में एक बर्फ का टुकड़ा। महासमुद्र में हवा पानी की कुछ गड़बड़ी के कारण उसी का जल बर्फ का रूप ले लेता है। यदि हम महासमुद्र को निर्गुण ब्रह्म समझें तो बर्फ को सगुण ब्रह्म समझना चाहिए। बर्फ महासमुद्र का ही जल है, केवल हवा पानी के कारण ही उसका रूप बदल गया है। यहाँ महासमुद्र का जो जल बर्फ बन गया है उसको सगुण ब्रह्म का पुरुष कहते हैं और आब हवा को प्रकृति। महासमुद्र का जो जल बर्फ नहीं बना है उसको निर्गुण ब्रह्म का पुरुष कहते हैं। महासमुद्र का जो जल बर्फ बन गया है और जो जल बर्फ नहीं बना है वह सब जल तो एक ही है, केवल जहाँ बर्फ बन जाता है वहाँ की आब हवा पानी को बर्फ बना सकती है और महासमुद्र के अन्यान्य स्थानों में आब हवा ऐसा नहीं कर पाती है। हम देखते हैं कि बर्फ महासमुद्र के जल का ही एक रूपान्तर है, किन्तु इस कारण बर्फ को महासमुद्र का पानी नहीं कह सकते हैं। बर्फ को महासमुद्र के जल का रूपान्तर कहना पड़ता है। ठीक इसी तरह सगुण ब्रह्म को ब्रह्म स्वरूप नहीं कह सकते हैं, कहना होगा

सगुण ब्रह्म ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, उसका रूपान्तर मात्र है।

ब्रह्म का रूपान्तर अथवा ब्रह्म का एक भिन्न रूप। रूपान्तरित रूप तो असल रूप नहीं है। जैसे, बर्फ का जल रूपान्तर है या जल का ही एक भिन्न रूप है, तो क्या बर्फ को जल कह सकते हैं? बर्फ को जिस तरह जल नहीं कह सकते हैं, सगुण ब्रह्म को भी त्यों ही ब्रह्म स्वरूप नहीं कह सकते हैं, कहना होगा कि ब्रह्म का ही एक भिन्न रूप है।

ब्रह्म स्वरूप की उपलब्धि करने के लिए निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि करनी होगी।

अतएव, सगुण ब्रह्म जब ब्रह्म स्वरूप नहीं है, तो ब्रह्म स्वरूप की उपलब्धि करने के लिए या असल ब्रह्म को जानने के लिए निर्गुण ब्रह्म को जानना पड़ेगा जो ब्रह्म का असली रूप है। सगुण ब्रह्म को जानने से या उसकी उपलब्धि करने से ब्रह्म के असली रूप को नहीं जाना जा सकता है या ब्रह्म की उपलब्धि नहीं की जा सकती है, क्योंकि सगुण ब्रह्म, ब्रह्म का स्वरूप या असल रूप नहीं है, उसका रूपान्तर या एक भिन्न रूप है।

अब देखें भगवान कौन है, सगुण ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म। भगवान शब्द की उत्पत्ति हुई है भग+मतुप्, यानी भग जिसको है वही भगवान है। भग शब्द का अर्थ है सर्वशक्ति, मंगल, और ज्योति, इसलिए भगवान कहने से हम समझते हैं सर्वशक्तिमान, मंगलमय, ज्योतिर्मय। सर्वशक्तिमान, मंगलमय, ज्योतिर्मय कहने से गुणयुक्त मालूम पड़ता है, क्योंकि

सगुण ब्रह्म ही जिसको यह सब गुण है उसीको ही सर्वशक्ति-

भगवान है।   मान, मंगलमय और ज्योतिर्मय कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान हुआ गुण-युक्त पुरुष। निर्गुण ब्रह्म में पुरुष गुण रहित है और सगुण ब्रह्म में पुरुष गुणयुक्त है। अतएव, भगवान कहने से हम सगुण ब्रह्म ही समझते हैं। पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण ब्रह्म ही ब्रह्म का स्वरूप है और सगुण ब्रह्म ब्रह्म का केवल रूपान्तर है। अतः जिसको हम भगवान कहते हैं वह भी ब्रह्म स्वरूप नहीं है या असल ब्रह्म नहीं है, केवल उसका एक रूपान्तर है। इससे यह साबित होता है कि भगवान की उपलब्धि करने से या जानने से ब्रह्म स्वरूप को नहीं जाना जाता है। ब्रह्म स्वरूप को पहचानने के लिए भगवान से भी आगे बढ़कर निर्गुण ब्रह्म को पहचानना होगा या उसकी उपलब्धि करनी होगी।

३

जगत् क्या है?

ब्रह्म अणुचैतन्य की समष्टि (consciousness in its totality) है, अर्थात् इस जगत् में जितने अणुचैतन्य हैं उन सबों को एकत्रित भाव से ब्रह्म कहते हैं। पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक अणुचैतन्य अनादि है और इसी कारण ब्रह्म भी अनादि है, क्योंकि ब्रह्म अणुचैतन्य की ही समष्टि है। यह भी देखा गया है कि ब्रह्म अनन्त है, अतएव अणुचैतन्य की संख्या भी अनन्त ही है, तभी तो इन सबों को मिलाकर ब्रह्म होता है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि अणुचैतन्य की संख्या अनन्त है। अब देखें कि अनन्त संख्यक अणुचैतन्य पहले से ही है, जिनकी समष्टि को हम ब्रह्म कहते हैं, या ब्रह्म ने ही स्वयं को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बांट दिया है, जिसके कारण उसको अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि पाते हैं। कहा जा चुका है कि प्रत्येक अणुचैतन्य अनादि है और प्रत्येक मनुष्य के भीतर अणुचैतन्य या आत्मा है। पृथिवी का इतिहास देखने से मालूम होता है कि मनुष्य अनादि नहीं है, क्योंकि इनकी सृष्टि पृथिवी की सृष्टि होने के बहुत समय के

सगुण ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है या सगुण ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि का कारण है।

बाद हुई है। पृथिवी का जन्म सूर्य्य से हुआ है। उस समय यह केवल एक अग्नि पिण्ड थी। धीरे-धीरे ठंढा होकर पृथिवी जलमय हुई। इसके बाद स्थल की सृष्टि हुई, ततूपश्चात् जीव जन्तु की, और सबसे अन्त में मनुष्य की। अतः मनुष्य की सृष्टि जब पृथिवी का सापेक्ष है, तो वह अनादि नहीं है। मनुष्य अनादि नहीं है, परन्तु उसमें अनादि अणुचैतन्य रहता है। तब प्रश्न उठता है कि जब मनुष्य नहीं था उस समय उसका अणुचैतन्य कहाँ था? अणुचैतन्य अनादि है, इसलिए हम यह कह ही नहीं सकते हैं कि मनुष्य की सृष्टि के साथ ही साथ अणुचैतन्य की सृष्टि हुई है। अणुचैतन्य अनादि है इससे यह साबित होता है कि मनुष्य की सृष्टि होने के पहले भी अणु-चैतन्य था और जब मनुष्य की सृष्टि हुई तो उसने अणुचैतन्य को पाया। अणुचैतन्य और भूमाचैतन्य दोनों ही अनादि हैं, और अणुचैतन्य की ही समष्टि को भूमाचैतन्य कहते हैं। भूमाचैतन्य अणुचैतन्य की ही समष्टि है, इस कारण कहना ही पड़ता है कि मनुष्य की सृष्टि होने के पहले उसका अणुचैतन्य निश्चय ही भूमाचैतन्य के साथ समष्टि भाव से वर्त्तमान था, और मनुष्य की सृष्टि होने के साथ ही साथ उसने मानव शरीर का आश्रय लिया। समष्टिभाव से जब अणुचैतन्य भूमा-चैतन्य के साथ रहता है, उस समय वह तो भूमाचैतन्य का पर्यायवाचक ही है। इस तरह हम देखते हैं कि अनन्त संख्यक अणुचैतन्य पहले अणुचैतन्य के रूप में नहीं था। ब्रह्म ने ही

स्वयं को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य के रूप में भावित किया है जिससे कारण हम कहते हैं कि अणुचैतन्य की ही समष्टि भूमा चैतन्य है। यह भी देखते हैं कि मनुष्य भूमाचैतन्य से ही अणुचैतन्य पाता है। मनुष्य अनादि नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व पृथिवी का सापेक्ष है, अर्थात् उसकी सृष्टि पृथिवी से हुई है। मनुष्य की सृष्टि जब पृथिवी से हुई है, तो मनुष्य का अणुचैतन्य भी अवश्य ही पृथिवी में था। अणुचैतन्य अगर पृथिवी में न रहे तो पृथिवी से पैदा हुआ मनुष्य अणुचैतन्य पायगा कहाँ से ? जैसे देखिए, दूध में मक्खन है तभी न हम दूध से मक्खन पाते हैं। उसी प्रकार पृथिवी में मनुष्य का अणुचैतन्य है, तभी तो मनुष्य शरीर उसको पाता है। मक्खन जब दूध में रहता है वह नहीं पहचाना जाता है, किन्तु यंत्र की सहायता से जब उसको दूध से अलग किया जाता है तब देखते हैं कि वह दूध में ही था। ठीक इसी तरह पृथिवी में अणुचैतन्य इस प्रकार से है कि उसको पहचाना नहीं जा सकता है, किन्तु जब मनुष्य की सृष्टि होती है तो हम अणुचैतन्य का अनुसन्धान पाते हैं। इस तरह यह साबित होता है कि पृथिवी में अणुचैतन्य है। पृथिवी की उत्पत्ति सूर्य्य से हुई है। सूर्य अग्नि का पिण्ड है, और हवा के अभाव में आग रह नहीं सकती है, तो सूर्य निश्चय ही हवा का सापेक्ष है, अर्थात् सूर्य की सृष्टि हवा से हुई है। अगर महाशून्य (ether) न हो तो वायु कहाँ रहेगी ? अतः वायु की सृष्टि

निश्चय ही महाशून्य से हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक महाशून्य ही से वायु की सृष्टि हुई है, उसके बाद सूर्य की. तत्पश्चात् पृथिवी की और सबसे अन्त में मनुष्य की सृष्टि हुई है। अर्थात् एक महाशून्य से ही क्रमशः मनुष्य की सृष्टि हुई है। मनुष्य में अणुचैतन्य है, तो निश्चय ही महाशून्य में भी अणुचैतन्य है। महाशून्य में यदि अणुचैतन्य नहीं है तो उससे पैदा हुआ मनुष्य अणुचैतन्य कहाँ से पायगा। इस तरह हम देखते हैं कि महाशून्य में अणुचैतन्य है। महाशून्य एक स्थूल वस्तु है। इसका न रूप है, न नाप है, कुछ भी नहीं है, तभी तो महाशून्य कहते हैं, किन्तु इसको भी स्थूल ही कहते हैं, क्योंकि इससे होकर शब्द यातायात करता है। जब महाशून्य होकर शब्द आता जाता है, तो निश्चय ही इसके भीतर कुछ न कुछ है जिसका आधार पाकर शब्द आ जा सकता है। इसमें शब्द आ जा सकता है, इसीलिए महाशून्य एक स्थूल वस्तु है। दर्शन में इसका नाम है व्योमतत्त्व या आकाशतत्त्व। महाशून्य या आकाश स्थूल है और इसके भीतर अणुचैतन्य पाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि महाशून्य में अणुचैतन्य आया कैसे ? महाशून्य में स्थूल वस्तु कुछ नहीं है, इसीकारण इसका नाम महाशून्य रक्खा गया है, किन्तु इसके भीतर प्रमाण द्वारा हम अणुचैतन्य का अस्तित्व पाते हैं। इसलिए कहना पड़ता है कि महाशून्य के भीतर अणुचैतन्य छोड़ कर कुछ भी नहीं है। महाशून्य के भीतर जब केवल अणुचैतन्य छोड़कर कुछ भी नहीं

है तो कहना ही पड़ता है कि कुछ अणुचैतन्य से ही महाशून्य की सृष्टि हुई है, तभी न महाशून्य में अणुचैतन्य पाते हैं। जैसे देखिए, बर्फ में केवल जल है इसी कारण हम कहते हैं कि बर्फ जल से ही बना है, तभी तो बर्फ में हम जल पाते हैं। ब्रह्म अणुचैतन्य की ही समष्टि है, अतएव एक अणुचैतन्य भी ब्रह्म का ही अंश है। कुछ अणुचैतन्य से ही जब महाकाश की सृष्टि हुई है तो कहेंगे कि ब्रह्म के ही अंश से आकाश की सृष्टि हुई है। इस तरह हम देखते हैं कि महाकाश की सृष्टि हुई है ब्रह्म से, फिर महाकाश से जगत् की, अर्थात् हवा, अग्नि, जल स्थल और स्थल के ऊपर पेड़-पौधा, जीव-जन्तु की सृष्टि हुई है। अतएव, ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि हुई है, अर्थात् ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि का कारण है।

सगुण ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि का कारण है, यानी सगुण ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है। सगुण ब्रह्म या भगवान ने जब जगत् की सृष्टि की उस समय इस विराट् संसार का पदार्थ या यहाँ की चीजें(materials) उनको कहाँ से प्राप्त हुईं? जैसे कुम्भकार को मिट्टी का बर्त्तन बनाने के लिए उसको मिट्टी की जरूरत पड़ती है उसी तरह भगवान या सगुण ब्रह्म को

भी इस संसार को रचने के लिए, कुम्भकार

ब्रह्म ने अपनी देह की मिट्टी की तरह, कोई न कोई वस्तु की

से ही इस अनन्त जरूरत पड़ी है। कुम्भकार बर्त्तन बनाने के

जगत् की सृष्टि की है।

लिए मिट्टी पृथिवी से लेता है, तो क्या सगुण ब्रह्म ने भी जगत् की सृष्टि के लिए चीजें किसी और से उधार ली है ? यदि हाँ कहें, तो इसका माने है कि वे चीजें किसी के पास पहले से ही मौजूद थीं और सगुण ब्रह्म ने उसी से उधार लेकर जगत् की सृष्टि की है। जब ये चीजें किसी के पास पहले से ही मौजूद थी तो कहना ही पड़ेगा कि जिसके पास थीं वह सगुण ब्रह्म से बड़ा है और सगुण ब्रह्म के पहले से ही मौजूद था और पदार्थ की सृष्टि भी सगुणब्रह्म से पहले ही हो चुकी थी, तभी तो ये सब चीजें दूसरे के पास मौजूद थीं। किन्तु पहले ही कह आए हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही अनादि है। उसके पहले कुछ भी नहीं था, अतएव जगत् सृष्टि का पदार्थ किसी के पास न था और न रह सकता है। जब पदार्थ ही नहीं था तो प्रश्न उठता है कि सगुण ब्रह्म ने किस चीज से इस जगत् की सृष्टि की है ? पदार्थ नहीं था पर अभी आँख के सामने देखते हैं कि संसार है, और फिर शून्य (Nothing) से कोई भी वस्तु (something) तैयार नहीं की जा सकती है, तो विवश होकर कहना पड़ता है कि सगुण ब्रह्म ने अपने ही शरीर से इस जगत् की सृष्टि की है। जब सगुण ब्रह्म या भगवान ने अपने ही शरीर से सम्पूर्ण जगत की सृष्टि की है तो अवश्य ही इस संसार में जो कुछ भी है सभी सगुण ब्रह्म या भगवान का एक-एक अंशविशेष है।

जब यह साबित हुआ कि संसार में जो कुछ भी है सभी भगवान का ही अंशविशेष है तो जो लोग यह कहते हैं कि

ब्रह्म या भगवान सब जगह है, उनकी यह धारणा क्या भूल नहीं है ? जैसे, यह कहें कि इस कुर्सी में भगवान हैं, तो क्या मालूम होता है ? यही मालूम होता है कि एक कुर्सी है और भगवान उस कुर्सी में बैठे हैं। इस तरह यहाँ दो चीजें पाते हैं, एक कुर्सी और दूसरा भगवान, दोनों अलग-अलग अर्थात् कुर्सी भगवान या सगुण ब्रह्म से बाहर है। पहले ही जब साबित हो चुका है कि सब भगवान का ही अंश है और उससे बाहर कुछ भी नहीं है, तो कुर्सी में भगवान है यह बात एकदम गलत हो जाती है। यदि यह कहें कि कुर्सी भगवान है, तो मालूम होता है कि कुर्सी भगवान का एक अंश है या भगवान ने ही कुर्सी का रूप लिया है। ऐसा कहने से यह नहीं मालूम होता है कि भगवान कुर्सी से अलग है, और यह भी नहीं मालूम होता है कि भगवान और कुर्सी दो अलग-अलग चीजें है या कुर्सी सगुण ब्रह्म अथवा भगवान से बाहर है। यही कहना ठीक है, क्योंकि ब्रह्म से बाहर जब कुछ भी नहीं है तो कुर्सी कैसे उससे बाहर रह सकती है। इस तरह हम देखते हैं कि कुर्सी भगवान या सगुण ब्रह्म का एक अंश है। जब सभी भगवान या सगुण ब्रह्म का ही अंशविशेष है, तो भगवान सब जगह है न कहकर सभी भगवान का अंश है या उसका रूप है कहना ही ठीक है। क्या यह बात नहीं है ? इस प्रमाण द्वारा हम कहते हैं कि सड़क के

अतएव सभी भगवान या ब्रह्म का अंशविशेष हैं।

किनारे (dustbin) का मैला भी भगवान या ब्रह्म का रूप है या उन्हीं का अंशविशेष है।

ब्रह्म से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति है। ब्रह्म पुरुष और प्रकृति इन दोनों को मिलाकर है। अतः प्रश्न होता है कि पुरुष अथवा प्रकृति, किस से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, यानी इस सृष्टि में किसने रूप ग्रहण किया है, पुरुष ने अथवा प्रकृति ने? प्रकृति एक शक्ति विशेष है और इसका काम है पुरुष को गुणान्वित करना। पुरुष को गुणान्वित करना ही जब प्रकृति का एकमात्र कार्य है, तो वह इस सृष्टि में रूप कैसे ले सकती है? क्योंकि रूप लेने से तो वह फिर पुरुष को गुणान्वित नहीं कर सकती है। इसके अलावे प्रकृति यदि रूप लेती है, तो प्रश्न होता है कि इसको रूपान्वित कौन करता है? जो पुरुष प्रकृति द्वारा गुणान्वित नहीं होने से अपना अस्तित्व बोध भी नहीं कर सकता है वह प्रकृति को रूप कैसे देगा? यह भी देखते हैं कि पुरुष को छोड़ कर और कोई भी नहीं है और पुरुष प्रकृति को रूप दे नहीं सकता है, तो निश्चित है कि सृष्टि में प्रकृति रूप ग्रहण नहीं कर सकती है और इसने रूप नहीं ग्रहण किया है। प्रकृति जब सृष्टि में रूप नहीं लेती है, तो कहना ही पड़ता है कि पुरुष ने ही इस सृष्टि में रूप ग्रहण किया है, अर्थात् पुरुष के ही शरीर से इस सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है और पुरुष को प्रकृति की इच्छा

प्रकृति की इच्छा-नुसार पुरुष ने ही

सृष्टि में रूप ग्रहण किया है और प्रकृति उसको जिस भाव से चलाती है वह उसी भाव से चलता है।

जिस भाव से चलाती है उसी भाव से चलना पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक लोना मिट्टी और कुम्भकार को लीजिए। कुम्भकार की जैसी इच्छा होती है वैसी वस्तु वह मिट्टी की लोंदा से तैयार करता है। यहाँ मिट्टी का लोंदा हुआ पुरुष और कुम्भकार हुई प्रकृति। मिट्टी कुम्भकार की इच्छानुसार रूप ग्रहण करती है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति ने पुरुष को अपनी इच्छानुसार रूप देकर सृष्टि की उत्पत्ति की है, अर्थात् प्रकृति पुरुष को जिस भाव से चलाती है वह ठीक उसी भाव से चलता है।

पुरुष ने ही इस सृष्टि में रूप ग्रहण किया है या सब कुछ पुरुष के ही शरीर से उत्पन्न हुआ है। पुरुष जब चैतन्यमय है तो इस सृष्टि में सब चैतन्ययुक्त है। इसलिए जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है। ईंट, काठ, माटी इत्यादि जिसको साधा-रणतः जड़ कहते हैं वे बिलकुल जड़ नहीं हैं, क्योंकि चैतन्य-मय पुरुष के ये सब एक अंश हैं। ये सब जड़ कैसे हो सकते हैं? तब प्रश्न उठता है कि जब ये जड़ नहीं हैं तो मन में जड़ प्रतीत क्यों होते हैं? ऊपर कह चुके हैं कि प्रकृति पुरुष को जिस भाव से चलाती है वह उसी भाव से चलता है। ईंट पुरुष के ही शरीर का एक अंश है, किन्तु प्रकृति ने उसको ईंट भाव से रक्खा है, इसी कारण वह आज ईंट

सृष्टि में सभी चैतन्य युक्त है इसलिए जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है।

के रूप में पड़ा है और अपने को एक जड़ पदार्थ समझता है। प्रकृति के प्रभाव से या उसके गुण के कारण वह चैतन्य का विकाश नहीं कर पाता है, इसी कारण अपने को ईंट-रूपी एक जड़ पदार्थ समझता है। प्रकृति के ही प्रभाव से चैतन्यमय होकर भी ऊपर से जड़ पदार्थ प्रतीत होता है। इसलिये कहा जाता है इस संसार में जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि सभी तो चैतन्यमय पुरुष के ही शरीर का अंश है।

युक्ति पूर्वक हम देख चुके हैं कि पुरुष स्वभावतः सूक्ष्म है, किन्तु प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर सूक्ष्म से स्थूल में आता है। उस समय उसकी अपनी विकाश शक्ति क्षीण हो जाती है, अर्थात् हमलोग उतनी ही कम चेतना पाते हैं। पुरुष ने सूक्ष्म से स्थूल होते-होते सबसे स्थूल रूप लिया है मिट्टी या क्षितितत्त्व में, जहाँ देखते हैं कि वह जड़ होकर पड़ा हुआ है या उसकी चैतन्य-शक्ति बिलकुल लुप्त हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चैतन्य के ऊपर प्रकृति का प्रभाव जितना कम है वह उतना ही सूक्ष्म है और प्रकृति का प्रभाव जितना अधिक है वह उतना ही अधिक स्थूल है।

पुरुष पर प्रकृति का प्रभाव जितना अधिक है वह उतना ही अधिक स्थूल है और प्रकृति का प्रभाव जितना कम है वह उतना ही सूक्ष्म है।

सृष्टि पुरुष के ही शरीर से पैदा हुई है, अर्थात् प्रकृति के गुण से गुणान्वित हो कर पुरुष ने अपने ही शरीर से सृष्टि की रचना की है। यह भी कहा जा चुका है कि पुरुष स्वभावतः सूक्ष्म या भावमय वस्तु है। आँख के सामने देखते हैं कि सृष्टि अर्थात्, चन्द्र, सूर्य्य, ग्रह, तारा, आकाश, वायु, पृथिवी इत्यादि सभी स्थूल हैं और जब ये सब सूक्ष्म पुरुष के शरीर से बने हैं, तो कहना ही पड़ता है कि सृष्टि सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल हुई है। प्रमाण द्वारा देखते हैं कि पुरुष सूक्ष्म या भावमय वस्तु है। यदि उसके शरीर से यह स्थूल जगत् बना है, तो निश्चय ही इस स्थूल जगत् का बीज उसी में था और प्रकृति के प्रभाव से फल रूप में स्थूल जगत् बन कर इस सृष्टि का रूप लिया है—जैसे दूध से मक्खन की सृष्टि है। दूध में मक्खन है तभी तो हम दूध से मक्खन पाते हैं। पुरुष में जब स्थूल जगत् का बीज पाते हैं, तो उसको सूक्ष्म तथा भावमय कैसे कहते हैं। जिस वस्तु में कुछ नहीं पाकर केवल भावना द्वारा उसको समझ पाते हैं कि वह वस्तु है, उसी को सूक्ष्म कहते हैं—जैसे आकाश या महाशून्य (Ether)। इसमें कोई भी स्थूल वस्तु नहीं पाते हैं, तब भी एक ही कारण वश इसको स्थूल कहते हैं। इससे होकर शब्द आता जाता है और शब्द यदि किसी वस्तु का अवलम्बन न करे तो यातायात कैसे कर सकता है ? शब्द का आना जाना ही साबित करता है कि आकाश में एक कोई वस्तु है जिसका अवलम्बन करके

शब्द आता जाता है। केवल इसी एक कारणवश आकाश को स्थूल कहते हैं, यद्यपि हम लोग आकाश या महाशून्य का न कोई आकार देखते हैं और न उसका कोई नाप या और कुछ पाते हैं। इस तरह देखते हैं कि किसी वस्तु में यदि हम कुछ पाते हैं, तो उसको पहचानने के लिए भावना की जरूरत नहीं पड़ती है। ऐसी वस्तु भावमय या सूक्ष्म नहीं हो सकती है। पुरुष में यदि स्थूल जगत् का बीज है,

तो पुरुष को सूक्ष्म कैसे कह सकते हैं ? उसमें

सृष्टि सगुण ब्रह्म स्थूल जगत् का बीज होने के कारण उसको

की कल्पना मात्र है। स्थूल कहना पड़ेगा, जैसे आकाश में एक कुछ

है इसी कारण उसको सूक्ष्म न कह कर स्थूल

कहते हैं। स्थूल जगत् जब पुरुष की देह से बनी है, तो अवश्य ही सूक्ष्म पुरुष की देह में स्थूल जगत् का बीज है और जब उसमें बीज है, तो पुरुष निश्चय ही स्थूल है। किन्तु पहले साबित कर चुके हैं कि पुरुष सूक्ष्म है और पुरुष जब सूक्ष्म है तो विवश हो कर कहना पड़ता है कि पुरुष के शरीर में स्थूल जगत् का बीज न था और न है। तब प्रश्न उठता है कि पुरुष के शरीर में जब सृष्टि का बीज नहीं था तो उसकी देह से सृष्टि की उत्पति हुई कैसे? प्रमाण द्वारा पहले ही साबित कर चुके हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति पुरुष के शरीर से हुई है। परन्तु सूक्ष्म पुरुष के शरीर में स्थूल जगत् का बीज न रहने पर भी स्थूल जगत् सूक्ष्म पुरुष के शरीर से ही बनी है, यह बात युक्तिविहीन हो जाती है। है न? बीज

न रहने से सृष्टि नहीं हो सकती है। तब जिस पुरुष के शरीर से सृष्टि बनी है उसके शरीर में सृष्टि के बीज का अभाव, यह बात एकदम युक्तिविहीन हो जाती है। सूक्ष्म पुरुष के शरीर से सृष्टि बनी है, किन्तु उसमें स्थूल जगत् का बीज नहीं है। इस लिए यदि हम कहें कि स्थूल जगत् ही नहीं बना है, तो यह बात युक्ति संगत जान पड़ती है। पुरुष स्वभावतः सूक्ष्म है इस कारण उसके शरीर से स्थूल जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती है। फिर भी प्रमाण द्वारा देखते हैं कि उन्हीं के शरीर से इस जगत् की सृष्टि है। अतः यदि हम यह सदा के लिए सत्य मान लें कि स्थूल जगत् की सृष्टि उन्हीं से शरीर से है, तो बाध्य होकर कहना पड़ता है कि स्थूल जगत् कभी बना ही नहीं। युक्ति द्वारा देखते हैं कि स्थूल जगत् नहीं बना है, किन्तु आँख के सामने देखते हैं कि स्थूल जगत् है। तब प्रश्न उठता है कि आँख के सामने जो स्थूल जगत् देखते हैं वह क्या है? यह स्थूल जगत् पुरुष की कल्पना है। प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर पुरुष कल्पना करता है, फलस्वरूप इस स्थूल जगत् की सृष्टि होती है। कल्पना द्वारा स्थूल जगत् की सृष्टि हुई है, इसलिए इसकी रचना के लिए स्थूल वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती है, क्यों कि कल्पना तो सत्य नहीं है जो सचमुच में स्थूल वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी। स्थूल वस्तु की जब जरूरत नहीं पड़ती है तो सूक्ष्म पुरुष अपने सूक्ष्म शरीर से ही इस जगत् की सृष्टि कर सकते हैं। स्थूल जगत् को पुरुष की कल्पना कहने से प्रश्न उठता है कि—

(१) यह स्थूल जगत् यदि पुरुष की कल्पना है या स्थूल जगत् यदि स पमुष में स्थूल नहीं है तो यह हमलोगों को सत्य क्यों प्रतीत होता है ?

(२) कल्पना से जब सृष्टि हुई है, तो पुरुष की कल्पना जब टूटेगी उस समय तो यह जगत् ध्वंश हो जायगा ? और कल्पना जब कुछ समय के लिए होती है यानी क्षणिक होती है, तो पुरुषकी कल्पना कब टू टेगी जिसके फलस्वरूप इस संसार का ध्वंश होगा ?

मनुष्य जिस समय कल्पना करता है उस समय उसके मन को क्या वह कल्पना बुझाता है ? मनुष्य मन ही मन कल्पना करता है और उस कल्पना को मन सत्य समझता है। जब उसकी कल्पना टूटती है तभी वह समझता है कि वह कल्पना कर रहा था।

देखिए कल्पना क्या है और मनुष्य जितनी देर तक कल्पना करता है उतनी देर तक वह उसको सत्य क्यों प्रतीत होती है ?

कल्पना में चित्त ही कल्पनानुसार रूप लेता है।

पहले कहा जा चुका है कि हम लोगों के मन का अहंतत्त्व काम करता है और चित्त को ही काम का फल बनना पड़ता है। जैसे, अहं-तत्त्व यदि कुर्सी देखने का काम करता है तो चित्त को कुर्सी का रूप तन्मात्र ग्रहण करके निज को ही कुर्सी का रूप लेना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य जिस समय कल्पना करता है उस समय वह जिस वस्तु की चिन्ता करता है उसके अहंतत्त्व को भी वही

करना पड़ता है और उसके चित्त को उसी वस्तु का रूप लेना पड़ता है। जैसे, राम भागलपुर में बैठकर कलकत्ता की चौरंगी की चिन्ता करता है। चौरंगी की चिन्ता करता है राम का अहंतत्त्व, फलस्वरूप राम के चित्त को चौरंगी का रूप लेना पड़ता है। राम का चित्त ज्योंही कल्पना में चौरंगी का रूप लेता है, राम का अहंतत्त्व उसी क्षण कल्पना में चौरंगी देखता है।

अहंतत्त्व चित्त के ही रूप को देखता है।

चित्त कैसे रूप लेता है? कुर्सी को देखकर चित्त कुर्सी का रूप तन्मात्र ग्रहण करके कुर्सी जिस भूत या वस्तु से बनाई गई है वही भूत मन के भीतर बनाएगा, तब कुर्सी का रूप ठीक-ठीक बनेगा। जैसे, काठ की कुर्सी बनी है काठ से, जो क्षितिभूत या क्षिति-तत्त्व में पड़ता है। तो चित्त को कुर्सी का रूप ग्रहण करने के लिए पहले उसको काठ यानी क्षिति भूत बनना पड़ेगा, उसके बाद ही वह कुर्सी का रूप ले सकता है। अतः देखा जाता है कि चित्त जिसका रूप लेता है पहले अपने को उसी भूत में रूपान्तरित करता है तब उसका रूप ग्रहण करता है। यह न होने से वस्तु का असली रूप अहंतत्त्व कैसे ग्रहण कर सकता है?

कल्पना में चित्त पहले वस्तु का भूत तैयार करता है तब वस्तु का रूप लेता है।

राम कल्पना में चौरंगी देखता है, फलतः राम के चित्त को

चौरंगी जिस-जिस भूत या पदार्थ से बनी है पहले उन सब भूत या पदार्थ को तैयार करना पड़ेगा उसके बाद ही चौरंगी का रूप ठीक तरह से ले सकता है। चौरंगी बनी है आकाश, वायु और क्षिति, तत्त्वों से, अतः चित्त को पहले आकाश, वायु और क्षिति, भूत बनना पड़ेगा उसके बाद वह चौरंगी का रूप लेगा, तभी वह चौरंगी का रूप ठीक-ठीक ले सकता है। इस तरह देखते हैं कि कल्पना में भी चित्त को ही, जिस वस्तु की कल्पना करते हैं उसका भूत तैयार करने के बाद, उसका रूप लेना पड़ता है। अब देखिए, कल्पना मन में सत्य क्यों प्रतीत होती है।

हमलोगों के चित्त का विकाश दसों इन्द्रियाँ द्वारा ही होता है, अर्थात् चित्त दसों इन्द्रियों की सहायता से काम करता है। आँख इन्द्रिय द्वारा कुर्सी का रूप तन्मात्र ग्रहण कर चित्त कुर्सी का रूप लेता है। यह भी कह चुके हैं कि अहंतत्त्व जब जो काम करना चाहता है वह उसी काम के अनुसार चित्त को इन्द्रिय द्वार तक तन्मात्र ग्रहण करने के लिए भेजता है। जैसे, अहंतत्त्व शब्द सुनना चाहता है तो चित्त को कान तक भेजता है, कुर्सी देखना चाहता है तो चित्त को आँख तक और गंध सूँघना चाहता है तो चित्त को नासिका तक भेजता है। चौरंगी की कल्पना करने के समय राम के चित्त को किसी भी इन्द्रिय की सहायता

कल्पना करने वाला जितनी देर तक कल्पना करता है उतनी देर तक वह उसको सत्य प्रतीत

होती है। की आवश्यकता नहीं पड़ती है, क्योंकि

भागलपुर से कलकत्ता २५० मील दूर होने के कारण राम की सभी इन्द्रियों की पहुंच के बाहर है। अहंतत्त्व चित्त को इन्द्रिय की सहायता लिए बिना ही रूप लेने को बाध्य करता है, फलतः चित्त सभी इन्द्रियों से दूर हट कर अपने ही आधार पर चौरंगी का रूप लेता है। चित्त ज्योंही सभी इन्द्रियों से दूर हट जाता है, इन्द्रियाँ काम नहीं कर पाती हैं। जिसके कारण मनुष्य स्थान, काल और पात्र की विवेचना शक्ति खो बैठता है। राम भागलपुर में है यह वह जान पाता है दूसरी इन्द्रियों को छोड़ कर अधिकतर आँख द्वारा ही, क्योंकि आँख इन्द्रिय द्वारा ही वह भागलपुर शहर को पहचान पाता है। चित्त ने सभी इन्द्रियों से दूर हट कर चौरंगी का रूप लिया है और वह अपनी इन्द्रियों की अनुभूति खो बैठा है, इसलिए राम भागलपुर में रहकर भी चौरंगी देख पाता है। इन्द्रियों की अनुभूति न रहने के कारण चित्त भागलपुर का किसी तरह रूप नहीं ले पाता है, इसलिए अहंतत्त्व भागलपुर का कोई भी अंश नहीं देख पाता है। वह केवल चौरंगी देखता है इसीलिए समझता है कि चौरंगी में ही है। जितनी देर तक चित्त चौरंगी का रूप लेकर रहेगा अहंतत्त्व उतनी देर तक उसको देखता रहेगा और समझेगा कि वह चौरंगी में ही है। अहंतत्त्व की कल्पना से चित्त चौरंगी का रूप लेता है, किन्तु चित्त जो रूप ग्रहण करता है वह तो कल्पना नहीं है। उसको तो वास्तव में

एक रूप ग्रहण करना पड़ता है। चित्त ज्योंही अहंतत्त्व का कल्पना द्वारा रूप ग्रहण करता है, अहंतत्त्व त्योंही देखता है कि वह वास्तव में चौरंगी में ही है। अहंतत्त्व जब कल्पना करना बन्द कर देता है, चित्त का भी रूप भंग हो जाता है, और साथ ही साथ उसकी दसों इन्द्रियाँ जाग्रत हो जाती हैं। तब वह समझ पाता है कि वह कल्पना में चौरंगी देख रहा था। इसी कारण, जितनी देर कल्पना करते हैं उतनी देर तक वह सत्य प्रतीत होती है और जब वह टूट जाती है तब पता चलता है कि यह कल्पना थी, सत्य नहीं।

जब कल्पना टूटती है तब ज्ञात होता है कि वह कल्पना कर रहा था।

तो हम देखते हैं कि किसी वास्तविक वस्तु का रूप तन्मात्र ग्रहण किए बिना भी, केवल अहंतत्त्व की कल्पना करने से ही, चित्त रूप ले सकता है और लेता है। चित्त कल्पना में जो रूप लेता है वह तो काल्पनिक रूप है, असल नहीं, क्यों कि कल्पना जब सत्य नहीं है तो काल्पनिक रूप भी सत्य नहीं हो सकता है। कल्पना सत्य नहीं है, किन्तु कल्पना में चित्त को तो रूप लेना पड़ता है, इसलिए कल्पना होने से भी चित्त का रुप लेना सत्य है, किन्तु चित्त जो रूप ग्रहण करता है वह रूप काल्पनिक या मिथ्या है।

कल्पना में चित्त को वास्तव में रूप लेना पड़ता है।

कल्पना क्या है और वह सत्य क्यों प्रतीत होती है, यह कह चुके हैं। अब देखें यह सृष्ट जगत् सगुण ब्रह्म की कल्पना

है या नहीं ? सगुण ब्रह्म के पुरुष ने प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर अपने शरीर से ही जगत् की सृष्टि की है। सगुण ब्रह्म जब जगत् की सृष्टि करता है तो निश्चय ही उसको मन है, क्यों कि मन न रहने से वह काम कैसे करेगा ? अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि को ही सगुण ब्रह्म का पुरुष कहते हैं, और देखते हैं कि प्रत्येक अणुचैतन्य प्रकृति के गुण द्वारा मन पाता है। सगुण ब्रह्म का पुरुष अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि है, और वह भी प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर अणुचैतन्य के ही समान मन पाता है, और उसके मन को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य के मन की समष्टि होना पड़ता है, अर्थात् प्रत्येक अणुचैतन्य जैसे सगुण ब्रह्म के पुरुष का अंश विशेष है उसी प्रकार प्रत्येक अणुचैतन्य का मन भी सगुण ब्रह्म के मन का अंशविशेष है। इस तरह हम देखते हैं कि सगुण ब्रह्म को भी मन है, और वह है प्रत्येक अणुचैतन्य के मन की समष्टि। मन है बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व, और चित्त की समष्टि, अतएव सगुण ब्रह्म का मन भी इन्हीं तीनों तत्त्वों से बना है। मन का अहंतत्त्व काम करता है और चित्त को काम का फल बनना पड़ता है। इसी तरह सृष्टि की रचना का काम सगुण ब्रह्म के मन का अहंतत्त्व करता है, और फलस्वरुप सगुण ब्रह्म का चित्त सृष्टि का रूप लेता है। चित्त दो प्रकार से रूप लेता है, एक, अहंतत्त्व की इच्छानुसार दूसरी वस्तु का तन्मात्र ग्रहण कर उसी तन्मात्र के अनुसार और दूसरा, किसी वस्तु का तन्मात्र

बिना ग्रहण किए ही अहंतत्त्व की चिंतन धारा, जिसको कल्पना कहते हैं, के अनुसार, अर्थात् अहंतत्त्व जैसा सोचेगा चित्त को भी उसी सोचने के अनुसार रूप लेना होगा। सगुण ब्रह्म से पहले सृष्टि नहीं थी। अतएव, सगुण ब्रह्म का चित्त उसके अहंतत्त्व की इच्छानुसार किसी वस्तु का तन्मात्र ग्रहण कर रूप नहीं ले सकता है। इसलिए सगुणब्रह्म के चित्त को विवश हो कर उसके अहंतत्त्व की चिन्ताधारा के अनुसार रूप लेना पड़ता है, अर्थात् सगुण ब्रह्म जिस भाव से चिन्ता करता है उसका चित्त उसी भाव से रूप लेता है। सगुण ब्रह्म के काम का फल है उसका चित्त, और यह स्थूल जगत् सगुण ब्रह्म की ही रचना है, तो यह भी सगुणब्रह्म के काम का ही फल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थूल जगत् सगुण ब्रह्म के ही चित्त का विकाश है, अर्थात् सगुण ब्रह्म के चित्त ने ही उस के अहंतत्त्व की चिंतन-धारा के अनुसार सृष्टि का रूप लिया है।

सृष्टि सगुण ब्रह्म की कल्पना मात्र है

अहंतत्त्व के सोचने के अनुसार जब चित्त रूप ग्रहण करता है तो हम उसको कल्पना कहते हैं। सगुण ब्रह्म के अहंतत्त्व के सोचने के अनुसार उसके चित्त का रूप ग्रहण करना ही जब सृष्टि है, तो इसको सगुणब्रह्म की कल्पना छोड़ कर और क्या कहा जा सकता है? इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि सगुण ब्रह्म की कल्पना है।

सृष्टि जब सगुण ब्रह्म की कल्पना मात्र है, तो यह हमलोगों को सत्य क्यों प्रतीत होती है? हमलोग देख चुके हैं कि अणुचैतन्य

जितनी देर कल्पना करता है उतनी देर उसको वह सत्य ही प्रतीत होती है। सगुण ब्रह्म अणुचैतन्य की ही समष्टि है, अतएव वह भी जब कल्पना करेगा तो उसी कारण वश उसको भी अपनी *कल्पना सत्य ही प्रतीत होगी। इसी कारण-वश सगुण ब्रह्म का मन उसकी अपनी ही कल्पना को सत्य समझ रहा है। यह भी देख चुके हैं कि हमलोगों का मन सगुण ब्रह्म के मनका ही अणुअंश है। अतएव, भूमा जिसको मन में सत्य समझ रहा है उसको अणु को भी सत्य समझना ही पड़ेगा, क्यों कि अणु भूमा का ही तो एक अंश है। इसीलिए वह विराट् जगत् ब्रह्म की कल्पना होने पर भी हमलोगों को परम सत्य मालूम होता है।

* किन्तु हमलोगों को परम सत्य ज्ञात होती है।

रास्ते में मदारी का खेल कभी देखा है? खेल दिखाने के लिए उसने दिखाया कि एक डोरी आकाश में फेंक दी गई और वह डोरी आकाश में ही लटकी रह गई। उसका एक साथी डोरी पकड़ कर और साथ में एक तलवार लेकर आकाश में जाकर अदृश्य हो गया। कुछ देर के बाद उसका कटा हुआ, खून से लथपथ हाथ पैर और शरीर एक-एक कर सभी आकाश से गिरने लगे। सभी दर्शक हतवाक्य हो गए। मदारी ने अपने साथी को मरा हुआ बताकर, उसके लिए रोता-रोता, उसका कटा हुआ हाथ, पैर और शरीर, एक थैली में भर कर दर्शकों से पैसा मांगना शुरू किया। दया से वशीभूत हो देखने वालों

ने एक पैसे की जगह चार पैसे दिए। इसके बाद उसका साथी, जो आकाश में जाकर विलीन हो गया था, दर्शकों के ही बीच से निकल कर हाजिर हुआ। यह खेल मदारी कैसे दिखाता है ? आप की आँखों के सामने मदारी का साथी आकाश में गया और उसका हाथ, पैर, शिर, शरीर, सभी कट-कट कर आकाश से पृथिवी पर गिर पड़े, अतएव, इन सब बातों को तो आप मिथ्या नहीं कह सकते हैं। लेकिन यह एक ऐसा अद्भुत खेल है कि मन उसको सत्य नहीं समझना चाहता है। मन में प्रश्न उठता है कि सचमुच में क्या मदारी ने हाथ, पैर, शिर, कट जाने पर भी अपने संगी को जिन्दा कर दिया ? आपने तथा और भी जितने लोग वहाँ थे सबों ने एक ही बात देखी, अतएव आप के मन में प्रश्न हो सकता है कि मेरी आंख भूल कर सकती है, किन्तु इतने लोग क्या सभी एक ही भूल करेंगे ? तो अब देखिए इस खेल में कहाँ तक सचाई है और मदारी किस तरह ऐसा खेल दिखाता है। डोरी सचमुच में आकाश में ठहर नहीं सकती है और न उस डोरी को पकड़ कर कोई आकाश में जा सकता है। हाथ, पैर, शिर, कटे हुए मृत पुरुष को कोई भी किसी काल में बचा नहीं सकता है, तो देखनेवाले सभी इन बातों को कैसे देखते हैं ? सभी लोग आँख इन्द्रिय की सहायता से मन द्वारा ही खेल देखते हैं। पहले ही बता चुके हैं कि मन कैसे देखता है। अहंतत्त्व देखने का मन की सृष्टि में काम करता है, और चित्त को उसी वस्तु का

उतनी ही सत्यता है जितनी मदारी के खेल में।

रूप लेना पड़ता है जिसको अहंतत्व देखता है, फलस्वरूप अहंतत्व चित्त को ही उस वस्तु के रुप में देखता है। यदि मदारी अपनी साधना या चेष्टा द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्ति से अपने मन को सभी देखने वालों के मन के ऊपर बढ़ाकर (expand) अपनी शक्ति द्वारा सभी देखने वालों के मन को मोहित कर सकता है, अर्थात् दर्शकों के मन की काम करने की शक्ति को सामूहिक रूप से बन्द कर दे सकता है, तो मदारी का बढ़ा हुआ मन देखने वालों के मन की समष्टि हो जाता है, क्योंकि देखने वालों का मन काम नहीं करता है, काम तो करता है मदारी का मन। दर्शकों के क्रिया–शक्ति-विहीन मन की जगह पर मदारी का मन काम करता है, इसीलिए मदारी के मन को दर्शकों के मन की समष्टि कहते हैं। अब मदारी यदि ऊपर लिखे हुए खेल की कल्पना करता रहे तो उसका चित्त उस खेल का रुप लेगा और उसका अहंतत्त्व कल्पना में उस खेल के रुप को देखता रहेगा। कल्पना जितनी देर तक करते हैं उतनी देर तक वह मन में सत्य प्रतीत होती है, इसीलिए मदारी का अहंतत्त्व दर्शकों के अहंतत्त्व के रूप में काम कर रहा है, इसलिए मदारी जो कुछ देखता है दर्शक गण भी निश्चय ही वही देखेंगे। मदारी को जो सत्य प्रतीत होता है, दर्शकों को भी वह सत्य ही ज्ञात होगा। मदारी की कल्पना को हमलोग मन में सत्य समझते हैं, इसी कारण मदारी की कल्पना का खेल हमलोगों को सत्य

मालूम होता है। यदि मदारी एक सौ गज की व्यास में मन को बढ़ा सकता है तो इस एक सौ गज के भीतर जो कोई भी आएगा उसका मन मदारी के मन के भीतर आ जायगा और वह भी वही खेल देखेगा। किन्तु, यदि कोई उस एक सौ गज की परिधि से बाहर हो कर, जहाँ तक मदारी अपने मन को बढ़ाकर नहीं ले जा सकता है, खेल देखे तो वहाँ से वह देखेगा कि मदारी आँखें बन्द किए चुपचाप खड़ा है और उस खेल का कोई नाम निशान तक नहीं है। मदारी के खेल में यही सत्यता है कि मदारी चुपचाप आँखें बन्द करके कल्पना करता है और दर्शकगण उसकी उसी कल्पना को सत्य समझ कर देखते हैं। ठीक इसी तरह योगभ्रष्ट साधकगण धूल से रुपया-पैसा, रसगुल्ला, सन्देश इत्यादि तैयार कर लोगों को खिलाकर अपनी अलौकिक शक्ति दिखलाते हैं। रुपया-पैसा या मिठाई, कुछ भी नहीं रहता है, रहता है केवल साधक के मन का खेल।

स्थूल जगत् जो सगुण ब्रह्म की कल्पना मात्र है, किन्तु हमलोगों को परम सत्य प्रतीत होता है, उसका आँखों देखा प्रमाण है यह मदारी का खेल। मदारी के काल्पनिक खेल को जैसे सत्य समझते हैं, ब्रह्म की कल्पना को भी हमलोग उसी तरह सत्य समझते हैं। मदारी के मन के प्रभाव से जो लोग बाहर रहते हैं वे मदारी का काल्पनिक खेल नहीं देखते हैं।

साधना द्वारा सिद्धि

उनके सामने तो मदारी के खेल का असल रूप दिखलाई देता है। ठीक इसी तरह जो

लाभ करना है सत्य दर्शन करना और जिन्होंने सिद्धि लाभ की है वे हैं सत्यद्रष्टा ऋषि।

लोग साधना या चेष्टा द्वारा सगुण ब्रह्म के मन के बाहर चले जाते हैं, उनके सामने इस स्थूल जगत् का असल रूप मदारी के खेल के समान ही दिखलाई देता है। वह स्थूल जगत् को पहचान पाता है कि यह क्या है। स्थूल जगत् जब ब्रह्म की कल्पना है तो यह सत्य नहीं है, और जो लोग साधना द्वारा ब्रह्म के मन के बाहर चले गए हैं वे ही मदारी के खेल के समान परम सत्य को जान सके हैं। इसीलिए साधना द्वारा सिद्धि लाभ करने का दूसरा नाम है सत्य दर्शन करना, और जिन लोगों ने परम सत्य को जान लिया है उनको कहते हैं सत्यद्रष्टा ऋषि।

लोग कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। अब देखा जाय इस कथन में कहाँ तक सत्य है। सगुण ब्रह्म ने कल्पना में जगत् की सृष्टि की है। अतएव, जब जगत् ब्रह्म की कल्पना है तो यह सत्य हो ही नहीं सकता है, क्योंकि कल्पना तो कल्पना है, सत्य नहीं। कल्पना अगर सत्य होती तो उसको कल्पना न कहकर सत्य ही कहते, इसलिए जगत् जब ब्रह्म की कल्पना से उत्पन्न हुई है तो यह सत्य नहीं है। सगुण ब्रह्म के अहंतत्त्व की कल्पना के कारण उसका चित्त जगत् का काल्पनिक रूप लेता है, फलस्वरूप हम ब्रह्म का काल्पनिक जगत् पाते हैं। कल्पना में जगत् बनाने के लिए ब्रह्म के चित्त को काल्पनिक रूप

लेना पड़ता है। काल्पनिक रूप सत्य न होते हुए भी तो एक रूप है। चित्त को जब काल्पनिक रूप लेना पड़ता है, तो उसका रूप सत्य न होने पर भी तो उसको एक रूप लेना पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि चित्त का रूप लेना सत्य है, किन्तु जो रूप वह लेता है वह रूप काल्पनिक या मिथ्या है। सृष्टि जब ब्रह्म के ही चित्त का विकाश है तो जगत् का जो रूप है वह काल्पनिक या झूठा है, किन्तु जगत् ने एक रूप लिया है यह तो सत्य है। जगत् का जब एक रूप है तो इसको झूठा नहीं कह सकते हैं, और जब यह रूप ब्रह्म का काल्पनिक रूप है तो इसको सत्य भी नहीं कह सकते हैं। इसलिए कहना ही पड़ता है कि जगत् न सत्य है, न मिथ्या, इसके बीच में ही है—आपेक्षिक सत्य (relative truth).

जगत् न सत्य है न मिथ्या, यह आपेक्षिक सत्य है।

सृष्टि जब ब्रह्म की कल्पना है, तो जिस दिन ब्रह्म की कल्पना टूटेगी उस दिन सृष्टि का लय हो जायगा। अब देखें आज तक ब्रह्म की कल्पना क्यों नहीं टूटी है, और टूटेगी तो कब? जिसके फलस्वरूप सारी सृष्टि का लय हो जायगा। सगुण ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। सगुण ब्रह्म में पुरुष को अघन पाकर प्रकृति उसको गुणान्वित करती है, फलस्वरूप पुरुष कल्पना करता है जिसके कारण यह सृष्टि हुई है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृति के ही कारण सृष्टि हुई है, अर्थात् प्रकृति पुरुष को गुणा-

न्वित करती है इसी कारण सृष्टि हुई है। यदि पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त हो जाय तो उसको फिर प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर कल्पना नहीं करना पड़ेगा, फलस्वरूप सृष्टि का अन्त हो जायगा। प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर सगुण ब्रह्म के पुरुष ने स्वयं को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बांट दिया है, तभी न अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि को ब्रह्म कहते हैं। जब अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि ही सगुण ब्रह्म है तो सगुण ब्रह्म को प्रकृति के गुण से मुक्त होने के लिए इन अनन्त संख्यक अणुचैतन्य को प्रकृति के गुण से मुक्त होना होगा। तभी तो सृष्टि का अन्त होगा? सगुण ब्रह्म अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि है। यदि आज उसका एक करोड़ अणुचैतन्य प्रकृति के गुण के मुक्त हो जाता है, तो और कितना अणुचैतन्य प्रकृति के गुण से मुक्त होना बाकी रह जायगा? बाकी रहता है, अनन्त—एक करोड़=क्या? अनन्त संख्यक का अर्थ है जिसकी संख्या का अन्त नहीं है। जिस संख्या का अन्त नहीं है उसमें से एक करोड़ बाहर कर देने से भी तो अनन्त संख्या ही बाकी रहेगी। केवल एक करोड़ ही क्यों, करोड़ों करोड़ की संख्या भी अनन्त संख्या से बाहर निकाल देने पर बाकी रह जायगी अनन्त संख्या ही, क्योंकि जिसकी संख्या का अन्त नहीं है उस को ही अनन्त कहते हैं। करोड़ों करोड़ संख्या बाद देने से यदि अनन्त संख्या में से कुछ कम हो जाय तो उसको अनन्त नहीं कह सकते हैं, वरन् कहना

पड़ेगा कि उस संख्या का अन्त है क्योंकि उसके शेष या अन्त का हम पता लगा लेते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि अनन्त संख्यक से जितना भी निकाल दिया जाय फिर भी व्रह अनन्त ही रहेगा। सगुण ब्रह्म जब अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की समष्टि है, तो कितनी भी संख्या में अणुचैतन्य प्रकृति के गुण से मुक्त क्यों न हो, सगुण ब्रह्म तब भी अनन्त संख्यक अणु–चैतन्य ही रहेगा। अनन्त संख्यक अणुचैतन्य रहने से ही तो सगुण ब्रह्म रहता है, क्योंकि वह अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की ही समष्टि है। सगुण ब्रह्म रहने से ही यह सृष्टि रहेगी, अतएव कोटि–कोटि अणुचैतन्य यदि प्रकृति के गुण से मुक्त हो जाय तब भी सृष्टि रहेगी ही। अणुचैतन्य की संख्या अनन्त होने के कारण ही इस सृष्टि का ध्वंस नहीं होता है या पुरुष की कल्पना नहीं टूटती है, क्योंकि सगुण का पुरुष प्रकृति के गुणवश कल्पना करता है और जब तक प्रत्येक अणु चैतन्य प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं होता है तब तक पुरुष गुणयुक्त रहेगा, और फलस्वरुप पुरूष कल्पना करता रहेगा। इसलिए सृष्टि या पुरुष की कल्पना तब तक रहेगी जब तक उसका प्रत्येक अणुचैतन्य प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं होगा।

सृष्टि ब्रह्म की कल्पना होने पर भी तब तक रहेगी जब तक सगुण ब्रह्म पूर्ण रूप से प्रकृति के गुण से मुक्त न हो जायगा।

सृष्टि सगुण ब्रह्म की कल्पना है। अब देखें सगुण ब्रह्म ने

कल्पना द्वारा कैसे इस जगत् की सृष्टि की है ? राम ने भागल-
पुर में बैठकर कल्पना में चौरंगी की सृष्टि की है, अर्थात् जब
उसका अहंतत्त्व चौरंगी की चिन्ता करता है तो उसका चित्त
चौरंगी का रूप लेता है। राम का चित्त उसके मन का एक अंश
है, अतएव राम चौरंगी की सृष्टि करता है, अपने मन के भीतर।
ठीक इसी तरह सगुण ब्रह्म ने जब कल्पना में जगत् की सृष्टि
की, तो उसके अहंतत्त्व की कल्पना के कारण उसके चित्त ने इस
सृष्टि का रूप लिया। सगुण ब्रह्म का चित्त उसके मन का
एक अंश है। अतः सगुण ब्रह्म ने अपने मन में ही सृष्टि बनाई
है, अर्थात् जगत् की सृष्टि हुई है सगुण ब्रह्म के ही मन के
भीतर। राम का चित्त चौरंगी का रूप लेता है। चित्त सूक्ष्म
वस्तु है और चौरंगी स्थूल है। इसलिए राम का चित्त जब
चौरंगी का रूप लेता है तो उसके चित्त को भी स्थूल रूप लेना
पड़ता है। राम का सूक्ष्म चित्त जब चौरंगी का स्थूल रूप लेता
है तो क्या वह एकाएक चौरंगी का स्थूल रूप ले सकता है या
क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल में आकर सबसे आखिर में चौरंगी का
स्थूल रूप लेता है ? जैसे दूध से खोवा
बनाते हैं। दूध को उबालते ही क्या खोवा
बन जाता है या धीरे धीरे मोटा होते होते
खोवा बन जाता है ? सगुण ब्रह्म का चित्त सूक्ष्म
है, इसलिए जब उसको भी स्थूल रूप लेना पड़ता है तो वह भी दूध
के ही समान धीरे धीरे स्थूल होते होते सबसे आखिर में क्षिति-

सृष्टि की गति है
सूक्ष्म से स्थूल।

तत्त्व या मिट्टी का स्थूल रूप लेता है। तो हम देखते हैं कि सृष्टि जब सगुण ब्रह्म के ही चित्त का विकाश है या चित्त ने ही सृष्टि का रूप लिया है, तो सृष्टि निश्चय ही सूक्ष्म से स्थूल हुई है।

देख चुके हैं कि सगुण ब्रह्म ने ही अपने शरीर से कल्पना में सृष्टि बनाई है और उसको सूक्ष्म से स्थूल बनाया है। अब देखें सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल में कैसे आई। सगुण ब्रह्म में पुरुष को प्रकृति दुर्बल पाकर गुणान्वित करती है, जिसके फलस्वरूप सृष्टि हुई। अणुचैतन्य के समान ही प्रकृति सगुण ब्रह्म के पुरुष को भी सत्त्वगुण द्वारा गुणान्वित करती है जिससे सगुण ब्रह्म के बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व की सृष्टि होती है, अर्थात् पुरुष को बोध होता है कि "मैं हूँ"। उसके बाद प्रकृति फिर उसको रजोगुण द्वारा गुणान्वित करती है जिससे सगुण ब्रह्म के अहं-तत्त्व की सृष्टि होती है। सबसे अन्त में प्रकृति सगुण ब्रह्म को तमोगुण से गुणान्वित करती है जिसके फलस्वरूप चित्त की सृष्टि होती है। बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व, और चित्त, इन तीनों से मन बनता है, और ये सभी सूक्ष्म हैं। इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृति के गुण से सर्वप्रथम सगुण ब्रह्म के मन या सूक्ष्म जगत् की सृष्टि हुई। कहा जा चुका है कि बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त पुरुष का ही क्रम विकाश है, अर्थात् प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर पुरुष ने ही रूप लिया है बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त का। इस तरह देखते हैं कि सूक्ष्म जगत् भी पुरुष के ही शरीर से बना है। बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व, और चित्त तीनों

ही सूक्ष्म हैं, किन्तु बुद्धितत्त्व इन तत्त्वों में सबसे सूक्ष्म है, उसके बाद अहंतत्त्व और सबसे अखिर में चित्त है। बुद्धितत्त्व में हम केवल एक भाव पाते हैं, अर्थात् "मैं हूँ" का बोध होता है। अहंताव में दो भाव पाते हैं, पहला मैं हूँ का भाव, और दूसरा, जो मैं हूँ वही मैं, काम करता हूँ। जिसमें अधिक तत्त्व या अधिक पदार्थ का अनुसन्धान पाते हैं वे अवश्य ही अधिक स्थूल हैं इसलिए अहंतत्त्व बुद्धितत्व से अधिक स्थूल है। चित्त अहंतत्त्व के काम का फल है। जब यह काम का ही फल है तो अवश्य ही यह एक वस्तु विशेष है, चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल। चित्त में जब किसी वस्तु का अस्तित्व पाते हैं तो अवश्य ही वह अहंतत्त्व से अधिक स्थूल है। पहले बुद्धितत्त्व की सृष्टि हुई उसके बाद अहंतत्त्व की और सबसे आखिर में चित्त की सृष्टि हुई। इस तरह हम देखते हैं कि सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल में आई है।

पहले बुद्धितत्त्व की सृष्टि हुई उस के बाद अहंतत्त्व की और उसके भी बाद चित्त की सृष्टि हुई।

सगुण ब्रह्म ने कल्पना में स्थूल जगत् की सृष्टि की है, अर्थात् सगुण ब्रह्म के मन का अहंतत्त्व प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव से कल्पना करता है, जिसके फलस्वरूप उसका चित्त स्थूल जगत् का रूप लेता है। चित्त सूक्ष्म है, इसलिए उसको सूक्ष्म से स्थूल का रूप लेना पड़ा है। चित्त को क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल में आने के लिए कुल पाँच तत्त्व या भूत या पदार्थ का रूप लेना

पड़ा है, यथा—व्योमतत्त्व या आकाश, मरुत् तत्त्व या वायु, तेजः तत्त्व या अग्नि, जलतत्त्व या पानी, क्षिति तत्त्व या मिट्टी। ये पाँचो तत्त्व स्थूल हैं और केवल इन्हीं पाँचो तत्त्व से स्थूल जगत् की सृष्टि हुई है। कहा जा चुका है कि वस्तु को जिस सूक्ष्मतम भाव से इन्द्रिय ग्रहण करती है, उसको तन्मात्र कहते है। तन्मात्र कुल मिला कर पाँच हैं, यथा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। सूक्ष्म जगत् में देखते हैं कि बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व से सूक्ष्म है, क्योंकि बुद्धितत्त्व में केवल 'मैं हूँ' का बोध है, किन्तु अहंतत्त्व में 'मैं हूँ' बोध के अलावे एक और भाव है कि, जो मैं हूँ वही मैं काम करता हूँ। ठीक इसी तरह हम कहते हैं कि जिसमें जितना अधिक तन्मात्र है वह उतना ही अधिक स्थूल है और जिसमें जितना कम है वह उतना ही सूक्ष्म है। जिसमें तन्मात्र नहीं है वह एकदम सूक्ष्म है। इससे यही साबित होता है कि सूक्ष्म जगत् को पहचानने के लिए भावना की जरूरत होती है और स्थूल जगत् को पहचानने के लिए तन्मात्र की अर्थात् जिस वस्तु में तन्मात्र नहीं है वह सूक्ष्म है और जिसमें तन्मात्र है वह स्थूल है और जिसमें जितना अधिक तन्मात्र है वह उतना अधिक स्थूल है।

स्थूल पदार्थ को पहचानने के लिए जब एकमात्र उपाय तन्मात्र है, तो चित्त जब स्थूल पदार्थ का रूप लेता है उस समय
साथ ही साथ उसको उस वस्तु के लिए तन्मात्र
सगुण ब्रह्म ने भी तो बनाना पड़ता है, नहीं तो वह स्थूल
कल्पना में जगत् वस्तु का तन्मात्र पायगा कहाँ से ? अतएव,

चित्त ने जब पंचभूत का रूप लिया है तो साथ-ही-साथ उसको पंच तन्मात्र का भी रूप लेना पड़ा है। इस तरह देखते हैं कि स्थूल जगत् की सृष्टि पंचभूत और पंच तन्मात्र से हुई है, और पंचभूत तथा पंच तन्मात्र चित्त का ही क्रमशः विकाशित रूप है।

की सृष्टि करने के हेतु पंचभूत और पंच तन्मात्र की सृष्टि की है, अर्थात् पंचभूत और पंच तन्मात्र द्वारा ही स्थूल जगत् की सृष्टि हुई है।

सृष्टि जब क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल में आई है और जब स्थूल जगत् पाँच तत्त्वों से बना है, तो इन पाँच तत्त्वों में जो जितना सूक्ष्म है उसकी सृष्टि उतनी ही पहले हुई है, तथा जो जितना स्थूल है उसकी सृष्टि उतनी ही पीछे हुई है। तभी न सृष्टि क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल में आई है? अब देखें पाँचो तत्त्वों में कौन अधिक सूक्ष्म है और कौन अधिक स्थूल तथा किसकी सृष्टि पहले हुई है और किसकी पीछे।

व्योमतत्त्व या आकाश।

प्रथम देखिए व्योम या आकाशतत्त्व को। यह जो हमारी पृथिवी के चारो तरफ अनन्त महाशून्य है इसी को हम आकाश या व्योम कहते हैं। इस महाशून्य का अर्थ है कुछ भी नहीं, लेकिन तब भी इसको स्थूल कहते हैं, क्यों कि इसमें हम शब्द तन्मात्र पाते हैं। वैज्ञानिकों ने इस महाकाश का नाम ईथर (Ether) रक्खा है। इस महाकाश या ईथर (Ether) का न आकर है न रूप और न कोई वजन है, अर्थात् इसके

भीतर कुछ भी नहीं है, इसी कारण इसका नाम है महाशून्य, किन्तु इस महाशून्य के भीतर कुछ न रहने पर भी इससे होकर शब्द आता जाता है। शब्द बिना किसी वस्तु का सहारा लिए यातायात नहीं कर सकता है, अतएव इसमें अवश्य ही कुछ न कुछ है जिसका सहारा लेकर शब्द आता जाता है। यही एक किसी वस्तु के रहने के कारण हमलोग इसको स्थूल कहते हैं। इस तरह देखते हैं कि इस में कुछ न रहने पर भी शब्द तन्मात्र है, और केवल एक तन्मात्र रहने के कारण यह स्थूल है, किन्तु स्थूल जगत् में सब से सूक्ष्म है। आकाशतत्त्व जब स्थूल जगत् में सब से सूक्ष्म है तो चित्त को पहले आकाश का ही रूप लेना पड़ा, अर्थात् स्थूल जगत् की सृष्टि में पहले आकाश की और उसके तन्मात्र शब्द की सृष्टि हुई।

मरुत्तत्त्व या वायु।

आकाश के बाद चित्त ने वायु का रूप ग्रहण किया, अर्थात् वायु की सृष्टि हुई। आकाश से वायु अधिक स्थूल है, क्योंकि वायु में हम शब्द और स्पर्श दो तन्मात्र पाते हैं। इसमें शब्द तन्मात्र न रहने पर हमलोग आपस में बात-चीत नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वायु ही शब्द को एक जगह से दूसरी जगह ले जाता है, जिससे हम लोग एक दूसरे की बात सुन सकते हैं। अतएव देखा जाता है कि वायुमें शब्द तन्मात्र है। फिर वायु को स्पर्श करके उसके अस्तित्व का पता पाते हैं, इसलिए वायु में स्पर्श तन्मात्र भी है। इस तरह वायु में हम दो तन्मात्र पाते हैं और

आकाश में केवल एक, इसलिए वायु आकाश से स्थूल है। सृष्टि जब सूक्ष्म से स्थूल बनी है, तो वायु की सृष्टि निश्चय ही आकाश के बाद हुई है। इस तरह देखते हैं कि आकाश के बाद वायु की सृष्टि हुई है या चित्त ने वायु का रूप लिया है।

वायु के बाद चित्तने प्राणशक्ति या तेजका रूप लिया, अर्थात् अग्नि या तेजस् तत्त्व की सृष्टि हुई। आग को हम देख सकते हैं, अतएव निस्सन्देह यह कह सकते हैं कि इसका रूप है। तभी तो हमलोग इसको देख सकते हैं? आग को स्पर्श भी कर सकते हैं और इसमें शब्द भी है। अतः हम आग में शब्द, स्पर्श, और रूप इन तीनों तन्मात्र को पाते हैं। इसमें तीन तन्मात्र रहने के कारण आग वायु से अधिक स्थूल है, इसलिए आग की सृष्टि वायु से पीछे हुई है।

तेजस् तत्त्व या प्राण शक्ति।

आग के बाद जल या तरल पदार्थ की सृष्टि हुई, अर्थात् चित्त ने और भी अधिक स्थूल रूप लिया। जल एक तरल या रसयुक्त पदार्थ है, इसी कारण हम इसमें रस पाते हैं। फिर इसमें शब्द, स्पर्श, और रूप, तन्मात्र भी है, इसीलिए यह आग से भी अधिक स्थूल है। जल होकर शब्द आता जाता है, इसका यह प्रमाण है कि यदि कोई तालाब के इस किनारे से ठीक पानी के ऊपर कुछ बोले और उस पार में यदि कोई जल के ऊपर कान रक्खे तो वह ठीक—ठीक बात सुन पायगा। इस

जलतत्त्व या तरल पदार्थ।

तरह देखते हैं कि जल में शब्द तन्मात्र है। जल को छू सकते हैं, यानी इसमें स्पर्श तन्मात्र है। जल का रूप है, तभी तो हम इसको देखते हैं। अतः हम जल में शब्द, स्पर्श, रूप, और रस ये चार तन्मात्र पाते हैं, इसलिए जल आग से भी स्थूल हुआ, और इसी कारण कहना पड़ता है कि आग के बाद जल की सृष्टि हुई, अर्थात् चित्त का और भी अधिक स्थूल विकाश हुआ।

जल के बाद मिट्टी या क्षितितत्त्व की सृष्टि हुई, अर्थात् चित्त ने और भी स्थूल रूप लिया क्षितितत्त्व या स्थूल वस्तु में। मिट्टी में या क्षिति में गन्ध तन्मात्र पाया जाता है जो दूसरे किसी तत्त्व में नहीं है। इस तरह मिट्टी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, ये पाँच तन्मात्र पाते हैं, इसलिए मिट्टी या क्षितितत्त्व सभी तत्त्वों से अधिक स्थूल है। मिट्टी में शब्द तन्मात्र है, क्योंकि तार जो क्षितितत्त्व से बना है उससे हम टेलीफोन या टेलीग्राम करते हैं। मिट्टी को स्पर्श कर सकते हैं। इसमें रूप भी है, तभी तो इसको हम पाते हैं। इसमें रस भी देखते हैं जिससे पेड़ पौधा जी सकता है, और सबसे आखिर में इसमें गन्ध तन्मात्र पाते हैं। इस तरह मिट्टी में शब्द, स्पर्श, रूप, और गन्ध, ये पाँचों तन्मात्र हम पाते हैं। अतएव, मिट्टी या क्षिति-तत्त्व सब तत्त्वों से अधिक स्थूल हुआ, यानी क्षितितत्त्व की सृष्टि सबसे अन्त में हुई, अथवा चित्त ने सबसे आखिर में अपने को क्षितितत्त्व या मिट्टी में विकशित किया है।

क्षितितत्त्व या कठिन पदार्थ।

सगुण ब्रह्म की कल्पना से सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल बनी है, अर्थात् उसके अहंतत्त्व की चिन्ताधारा के अनुसार उसके चित्त ने धीरे धीरे सूक्ष्म से एकदम स्थूल रूप लिया है क्षितितत्त्व में। क्षितितत्त्व सब से स्थूल है, क्योंकि इसमें पाँचो तन्मात्र हैं। क्षिति, तत्त्व या मिट्टी देखने में जड़ पदार्थ है, यानी इसके भीतर चैतन्य का कोई लक्षण नहीं है। जो पदार्थ जड़ है उससे अधिक स्थूल और क्या हो सकता है? साबित हो चुका है कि चित्त पुरुष का ही क्रमशः विकाश है, अर्थात् पुरुष ने ही प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर स्वयं को चित्त के रूप में विकशित किया है या स्वयं ही चित्त का रूप ग्रहण किया है और चित्त ने ही अहंतत्त्व की चिन्ता धारा के अनुसार क्षितितत्त्व में एकदम स्थूलरूप लिया है। अतः देखते हैं कि चैतन्यमय पुरुष ने ही प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर अपनेको जड़रूप में रूपान्तरित किया है क्षितितत्त्व में, अर्थात् क्षितितत्त्व में हम चैतन्य को जड़रूप में पाते हैं। चैतन्य जब जड़ में बदल गया है, तो निश्चय ही वह इस दिशा में आखिरी सीमा तक पहुँच गया है, क्योंकि चैतन्य ने स्थूल रूप लेते-लेते एकदम जड़ वस्तु का रूप लिया है, जिससे अधिक स्थूल और कोई भी वस्तु नहीं हो सकती है। जड़ वस्तु जब स्थूल पदार्थ की आखिरी सीमा है और चैतन्य जब स्वयं को जड़ में बदलता है, तो बाध्य होकर कहना पड़ता है कि चैतन्य ने स्वयं को स्थूल की चरम सीमा तक विकशित किया है। चैतन्य प्रकृति के गुण से गुणा-

न्वित होकर अपना विकाश करता है। अतः प्रकृति ने जब अपने गुण प्रयोग से चैतन्य को स्थूल के चरम तक पहुँचाया है; तो उसके गुण प्रयोग का भी अवश्य ही अन्त हो गया है, अर्थात् प्रकृति ने अपने गुण के चरम प्रयोग द्वारा पुरुष को जड़ रूप में यानी क्षितितत्त्व में रूपान्तरित किया है। अतः हम क्षितितत्त्व में पुरुष और प्रकृति का स्थूल की ओर चरम विकाश पाते हैं, अर्थात् सूक्ष्म पुरुष क्षितितत्त्व से अधिक स्थूल नहीं हो पाता है और प्रकृति उस को उससे अधिक स्थूल नहीं कर पाती है। जब क्षितितत्त्व में पुरुष और प्रकृति दोनों ही चरम सीमा तक पहुँच गए हैं, तो प्रश्न उठता है कि क्या यही सृष्टि का अन्त है? एक और प्रश्न होता है कि क्षितितत्त्व में ही यदि सृष्टि का अन्त हो जाता है; तो पृथिवी पर ये चैतन्य युक्त जीव, पेड़–पौधा, इत्यादि जो स्थूल जगत् की वस्तु हैं, ये कहाँ से आए? ये सब जब सृष्टि के सूक्ष्म से स्थूल तक आने के रास्ते में कहीं नहीं पड़ते हैं, तो आखिर इनकी सृष्टि कैसे हुई?

क्षितितत्त्व में पुरुष का चरम स्थूल विकाश होता है और प्रकृति के गुण का पुरुष के ऊपर चरम प्रयोग।

कहा जा चुका है कि जहाँ चैतन्य पर प्रकृति का प्रभाव कम है वहाँ वह सूक्ष्म है और जहां प्रकृति का प्रभाव अधिक है वहाँ वह स्थूल है, तभी तो प्रकृति ने अपने चरम प्रभाव से सूक्ष्म चैतन्य को एकदम जड़ तक पहुँचा दिया है क्षितितत्त्व में?

मिट्टी देखने से ही जड़ मालूम होती है, अतः उसके ऊपर प्रकृति का प्रभाव निश्चय ही चरम सीमा तक है। मिट्टी के ऊपर पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, जितने हैं वे सब तो जड़ नहीं हैं, उनके भीतर चैतन्य होने के कारण उसको जड़ नहीं कह सकते हैं। इन सबों की उत्पत्ति मिट्टी या क्षितितत्त्व से है, अर्थात् सगुणब्रह्म का चित्त जिसने क्षितितत्त्व का रूप लिया है वही फिर पेड़-पौधा, जीव-जन्तु का रूप लेता है, जिसके कारण हम कहते हैं कि सृष्टि ब्रह्मके ही शरीर से हुई है। क्षितितत्त्व जड़ है और उससे उत्पन्न पेड़-पौधा, जीव-जन्तु के भीतर चैतन्य रहने के कारण वे सब जड़ नहीं हैं, तो निश्चय ही वे सब क्षितितत्त्व से सूक्ष्म हैं। क्षितितत्त्व से जब पेड़-पौधा, जीव-जन्तु इत्यादि की उत्पत्ति है, क्षिति की उत्पत्ति निश्चय ही पहले हुई उसके बाद पेड़-पौधा, जीव-जन्तु इत्यादि की सृष्टि हुई है। फिर पेड़-पौधा इत्यादि जब क्षितितत्त्व से भी सूक्ष्म हैं, तो देखते हैं कि सृष्टि क्षितितत्त्व के रूप में स्थूल की चरम सीमा तक आकर सूक्ष्म की ओर जा रही है।

सृष्टि की गति—सूक्ष्म से स्थूल में आकर फिर स्थूल से सूक्ष्म की ओर है।

सृष्टि जिस तरह सूक्ष्म से धीरे-धीरे स्थूल में आई है, यानी सूक्ष्म चित्त ने जिस तरह क्रमशः चरम स्थूल रूप क्षितितत्त्व में लिया है, उसी तरह सूक्ष्म में वापस जाने के लिए उसको क्रमशः सूक्ष्म होना पड़ेगा। जैसे, जमा हुआ घी गलाने से क्या एक ही

बार गल जाता है या धीरे-धीरे गलता है ? जमे हुए घी के गलने के समान ही चित्त को भी धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म में वापस जाना पड़ेगा। चित्त क्रमशः सूक्ष्म की ओर वापस जा रहा है, इसके प्रमाण हैं इस पृथिवी पर के पेड़-पौधे, जीव-जन्तु इत्यादि। सब से पहले सृष्टि हुई इस पृथिवी पर "काई" जातीय पौधा की। "काई" को हम जड़ नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसमें हम चैतन्य पाते हैं, चाहे वह कितना भी कम हो। उसके बाद सृष्टि हुई पेड़-पत्ते की जिसमें हम प्राण पाते हैं, अतएव यह निश्चय ही जड़ नहीं है और "काई" से अधिक चैतन्य है। इसके बाद निम्न श्रेणी के जीव-जन्तु की सृष्टि हुई, जिनके बाद उच्च श्रेणी के जीव-जन्तु और सबसे अन्त में मनुष्य की सृष्टि हुई। इस तरह देखते हैं कि पृथिवी पर सबसे पहले "काई" जातीय पौधा की उत्पत्ति हुई और सबसे अन्त में मनुष्य की। "काई" में चैतन्य का विकाश है, किन्तु एकदम कम, इतना कम कि मन में सन्देह होता है कि इसमें चैतन्य है अथवा नहीं, परन्तु मनुष्य मे चैतन्य का व्यापक विकाश पाते हैं। सृष्टि जब पृथ्वी पर धीरे-धीरे "काई" जातीय पौधा से मनुष्य तक आई है, तो चैतन्य भी धीरे धीरे विकशित हो कर व्यापक रूप से मनुष्य में विकशित हुआ है। कहा जा चुका है कि चित्त चैतन्य का ही स्थूल विकाश है और चित्त ने सब से स्थूल रूप लिया है क्षितितत्व में, जहाँ वह जड़रूप में पड़ा है। चित्त जब चैतन्य का ही रूप है, तो चित्त क्षितितत्त्व

बन कर जड़ रूप में पड़ा है, का अर्थ हुआ कि चैतन्य ही जड़ रूप में पड़ा है। इस तरह हम देखते हैं कि चैतन्य का सबसे स्थूल रूप है क्षितितत्त्व, जहाँ यह अपने को जड़ समझ रहा है या जड़ बन कर पड़ा हुआ है। चैतन्य स्वभावतः सूक्ष्म है और जब यह स्थूल रूप लेता है उस समय इसको जड़ पाते हैं, इसलिए हमलोग कह सकते हैं कि स्थूल में चैतन्य का विकाश कम है और सूक्ष्म में चैतन्य का विकाश अधिक है, अर्थात् स्थूल वस्तु में चेतना कम है और सूक्ष्म में अधिक है, यानी जो जितना चैतन्य है वह उतना सूक्ष्म है और जो जितना कम चेतनायुक्त है वह उतना ही अधिक स्थूल है। पृथिवी के ऊपर

सृष्टि क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रही है।

सबसे पहले उत्पन्न "काई" में जब चैतन्य कम है और सबसे आखिर में उत्पन्न मनुष्य में जब चेतना सबसे अधिक है,तो मनुष्य निश्चय ही काई से अधिक सूक्ष्म है। इस तरह देखते हैं कि सृष्टि क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रही है।

कहा जा चुका है कि चैतन्य का स्वरूप ही सूक्ष्म है। अतएव, सृष्टि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रही है, का अर्थ है कि सृष्टि चैतन्य या अपने रुप की ओर जा रही है। सृष्टि सूक्ष्म चैतन्य से प्रकृति के गुण के कारण स्थूल में आई है और फिर स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रही है, अर्थात् चैतन्य ने ही प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर पहले सूक्ष्म से स्थूल रूप लिया और फिर वह स्थूल से अपने असल रूप की ओर जा रहा है। इस

तरह हम सृष्टि की गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर और फिर स्थूल से सूक्ष्म की ओर पाते हैं।

पहले ही कह चुके हैं कि सृष्टि सगुण ब्रह्म की कल्पनाधारा से बनी है और उस कल्पनाधारा के अनुसार सगुण ब्रह्म के पुरुष ने सृष्टि में रूप लिया है, अर्थात् सगुण के पुरुष ने प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर सबसे अधिक स्थूल रूप क्षितितत्त्व में लिया है। फिर सृष्टि जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रही है उस समय सगुण ब्रह्म की ही कल्पनाधारा तो सूक्ष्म की ओर जा रही है। मनुष्य में चैतन्य का विकाश व्यापक रूप में पाते हैं और मनुष्य की सृष्टि पृथिवी पर सबसे आखिर में हुई है, अतः इस युक्ति द्वारा हम कह सकते हैं कि मनुष्य ही सगुण ब्रह्म की कल्पनाधारा का शेष पर्याय अथवा अन्तिम क्रम है, अर्थात् मनुष्य के बाद ही अणुचैतन्य भूमाचैतन्य में जाकर मिल जायगा। भूमा चैतन्य सूक्ष्म है और वहाँ चैतन्य का विकाश पूर्ण रूप से है, किन्तु प्रकृति के गुण के प्रभाव से यह पूर्ण रूप से विकशित चैतन्य ही सृष्टि में रूप ग्रहण करता है, पहले सूक्ष्म से स्थूल और फिर स्थूल से सूक्ष्म। सृष्टि में सब से स्थूल क्षिति-तत्त्व है जहाँ चैतन्य को जड़रूप में पाते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि चैतन्य जितना ही सूक्ष्म से स्थूल में आ रहा है उतना ही उसमें चैतन्य की कमी होती जाती है, और जितना ही वह सूक्ष्म की ओर यानी अपने असल रूप की ओर जा रहा है उतना ही उसका चैतन्य विकशित होता जाता है। मनुष्य में चैतन्य का

विकाश व्यापक रूप से पाते हैं और इससे अधिक चैतन्य का विकाश दूसरे में जब नहीं पाते हैं, तो विवश होकर कहना ही पड़ता है कि सूक्ष्म की ओर वापस जाने के समय चैतन्य ने मनुष्य को ही अपना अन्तिम आश्रय बनाया है, जहाँ से वह भूमाचैतन्य में जाकर मिल सकता है। इस तरह देखते हैं कि मनुष्य ही संसार का सर्वश्रेष्ठ और सब से आखिरी सृष्ट जीव है। सृष्टि जब ब्रह्म की कल्पनाधारा है, तो निश्चय ही ब्रह्म की अन्तिम सृष्टि उसकी कल्पनाधारा का अन्तिम क्रम या शेष पर्याय है। इस प्रकार देखते हैं कि मनुष्य ही सगुणब्रह्म की कल्पनाधारा के क्रम अथवा सिलसिले में सब से अन्त में है।

मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ जीव है और ब्रह्म की कल्पनाधारा का शेष पर्याय है।

ब्रह्म की कल्पना ने स्थूल जगत् का रूप लिया है और मनुष्य उस कल्पनाधारा का शेष पर्याय है, तथा व्योमतत्त्व या आकाश उस कल्पना धारा का प्रथम पर्याय है। देखते हैं कि सृष्टि में करोड़ों मनुष्य को छोड़कर जीव-जन्तु, पेड़–पौधा, और क्षिति, जल, अग्नि, वायु, व्योम ये पाँच तत्त्व भी हैं। मनुष्य जब ब्रह्म की कल्पना धारा का शेष पर्याय है, तो आज जो मनुष्य ब्रह्म की कल्पना-धारा के शेष पर्याय में आया, निश्चय ही एक न एक दिन वह ब्रह्म की कल्पना धारा का प्रथम पर्याय यानी आकाश रूप में था। ब्रह्म की कल्पना–धारा के अनुसार

जाए या उसके द्वितीय पर्याय में आया, अर्थात् जब वायुतत्त्व की सृष्टि हुई तो उस समय भी तो आकाशतत्त्व का रहना जरूरी है, नहीं तो आकाश के न रहने से वायु रहेगी कहाँ? इस तरह देखते हैं कि जिसकी सृष्टि ब्रह्मकी कल्पना धारा के प्रथम पर्याय में हुई वह जब उनकी कल्पना धारा के द्वितीय पर्याय में आता है, तब भी आकाश रहता है। ऐसी दशा में आकाश आता कहाँ से है? आकाश के वायु का रूप लेने पर भी जब देखते हैं कि आकाश रहता है, तो विवश होकर कहना पड़ता है कि सगुण ब्रह्म कल्पना द्वारा फिर नया आकाश तैयार करता है। यह न होने से आकाश फिर आता कहाँ से है? जैसे, पहला वर्ग के छात्र सभी जब दूसरे वर्ग में जाते हैं, तो जब तक पहला वर्ग में नए छात्र भर्त्ती न होंगे वह शून्य ही रहेगा। ठीक इसी तरह यदि ब्रह्म की कल्पनाधारा का प्रथम पर्याय आकाश वायु में रूपान्तिरित हो जाय और सगुणब्रह्म फिर नया आकाश अपनी कल्पना द्वारा तैयार न करे, तो आकाश का अस्तित्व ही लोप हो जायगा। स्कूल के प्रथम वर्ग के छात्र ज्योंही द्वितीय वर्ग में जाते हैं, प्रथम वर्ग में फिर से नए छात्र भर्त्ती किए जाते हैं। फिर जब द्वितीय वर्ग के छात्र तृतीय वर्ग में जाते हैं तो द्वितीय वर्ग में प्रथम वर्ग से छात्र आते हैं और प्रथम वर्ग में नए छात्र भर्त्ती किए जाते हैं। ब्रह्म की कल्पनाधारा में भी हम ठीक इसी तरह पाते हैं, अर्थात् आज जो आकाश है वह कुछ समय के बाद वायु होगा और फिर

वही वायु अग्नि होगी। जब आकाश वायु में रूपान्तरित होगा तो ब्रह्म कल्पना द्वारा नया आकाश तैयार करेगा। स्कूल के प्रथम वर्ग में जो पहले भर्ती होता है वही पहले मैट्रिक पास करता है। इसी तरह ब्रह्म की कल्पनाधारा में भी प्रथम पर्याय में जिस अणुचैतन्य ने रूप लिया था

स्थूल धूलिकण भी एक दिन मनुष्य में रूपान्तरित होगा।

उसी ने पहले सूक्ष्म से स्थूल में जाकर और स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ कर मनुष्य का रूप लिया है। इस युक्ति द्वारा हम कह सकते हैं कि आज जो अणुचैतन्य धूलिकण बन कर जड़ रूप में पड़ा हुआ है वह भी एक दिन मनुष्य में रूपान्तरित होगा।

सगुण ब्रह्म जब सूक्ष्म है और सृष्टि की गति सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म है, तो हम देखते हैं कि सृष्टि सगुण ब्रह्म से निकल कर फिर उसी में वापस आ रही है।

पुरुष स्वभावतः सूक्ष्म है। प्रकृति के चरम गुण वश इसी सूक्ष्म पुरुष ने चरम स्थूल रूप लिया है क्षितितत्त्व में। अतः देखते हैं कि प्रकृति का गुण पुरुष के ऊपर जितना कम है वह उतना सूक्ष्म है और जितना अधिक है वह उतना ही अधिक स्थूल है। तभी न हम सूक्ष्म पुरुष को चरम स्थूलरूप में क्षिति-तत्त्व में पाते हैं? क्षितितत्त्व में पुरुष के ऊपर प्रकृति के चरम गुण प्रयोग के कारण हम उसको जड़ रूपमें पाते हैं। इसके बाद फिर सृष्टि सूक्ष्म की ओर जाती है, अर्थात् पुरुष के चैतन्य

सृष्टि की स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त होता है।

का क्रमशः विकाश होता है। पुरुष जब प्रकृति के चरम गुणके कारण अपनी चैतन्य शक्ति को छोड़कर जड़रूप में पड़ा है, और फिर जब उसके चैतन्य का विकाश क्रमशः हो रहा है, तो निश्चय ही धीरे-धीरे प्रकृति का गुण उसके ऊपर से कम हो रहा है। प्रकृति के गुण के प्रभाव से जब वह जड़ है और जब उसकी जड़ता दूर होकर चैतन्य का विकाश हो रहा है, तो प्रकृति के गुण को भी तो कम होना पड़ेगा। यह न होने से पुरुष के चैतन्य का विकाश होगा कैसे? सृष्टि स्थूल से सूक्ष्म में जा रही है, यानी पुरुष का चैतन्य क्रमशः विकशित हो रहा है। पुरुष के चैतन्य का विकशित होने का माने है प्रकृति के प्रभाव के उसका मुक्त होना। इस तरह हम लोग देखते हैं सृष्टि के स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में पुरुष धीरे धीरे प्रकृति के गुण से मुक्त हो रहा है।

सृष्टि के स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में पुरुष जैसे धीरे धीरे प्रकृति के गुण से मुक्त हो रहा है, उसी तरह सृष्टि के सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने में पुरुष प्रकृति के गुण से क्रमशः गुणान्वित होता हुआ, चरम गुणयुक्त होकर, क्षितितत्त्व में जड़ रूप में पड़ा हुआ है। प्रकृति का धर्म है पुरुष को गुणयुक्त करना। सृष्टि का सूक्ष्म से स्थूल की ओर विकाश होने में हम देखते हैं कि प्रकृति पुरुष को गुणयुक्त कर रही है, जिसके फलस्वरूप

पुरुष अपनी चैतन्य शक्ति को क्रमशः छोड़ कर एकदम जड़ बन कर क्षितितत्त्व में पड़ा हुआ है, अर्थात् सृष्टि के सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने में प्रकृति अपना धर्म पूर्ण रूप से पालन कर रही है। सृष्टि के स्थूल सूक्ष्म की ओर जाने में हम पुरुष के चैतन्य का क्रमशः विकाश पाते हैं, अर्थात् पुरुष धीरे-धीरे प्रकृति के गुण से मुक्त हो रहा है। प्रकृति का धर्म जब पुरुष को गुणयुक्त करना है, तो प्रकृति सृष्टि की सूक्ष्म की ओर वाली गति में अपना धर्म ठीक से पालन नहीं कर पाती है, क्योंकि पुरुष उसके गुण से मुक्त होता जा रहा है। अतएव, प्रश्न होता है कि प्रकृति का जब धर्म है पुरुष को गुणयुक्त करना, तो पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त हो कैसे रहा है?

कहा जा चुका है कि भूमाचैतन्य ने प्रकृति के गुणवश सृष्टि में अनन्त संख्यक अणुचैतन्य का रूप लिया है। अतएव, अनन्त संख्यक अणुचैतन्य का कुछ ही अंश ने न सृष्टि में क्षिति-तत्त्व का स्थूल रूप लिया है? वे ही अणुचैतन्य जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर वापस जाते हैं, तो उस समय वे प्रकृति के गुण से क्रमशः मुक्त होते हैं। सगुण ब्रह्म से ही यह सृष्टि है। अतः सगुण-ब्रह्म अणुचैतन्य का सृष्टि में रूप लेने और उसका क्रमशः प्रकृति के गुण से मुक्त होने का कारण है। क्या यह नहीं है? सगुण ब्रह्म जब अपने अणुचैतन्य की मुक्ति का कारण है, तो निश्चय ही वह स्वयं मुक्त पुरुष है। यह न होने से

सगुण ब्रह्म मुक्त पुरुष है।

वह अपने अणुचैतन्य की मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है ? जो आपही बन्दी है वह कभी भी दूसरे को मुक्ति नहीं दे सकता है। मान लीजिए, राम और श्याम दोनों ही जेलखाने में कैद हैं। राम जब तक जेलखाने में बन्द है, क्या वह कभी श्याम को किसी भी उपाय से मुक्त कर सकता है ? राम जब स्वयं ही जेलखाना में बन्द है तो उसकी हजार चेष्टा पर भी श्याम मुक्त नहीं हो सकता है। अतएव, राम श्याम की मुक्ति का कारण हो ही नहीं सकता है। किन्तु, जो जेलखाना से बाहर है उसकी साधारण चेष्टा से भी श्याम मुक्त हो सकता है या वह श्याम की मुक्ति का कारण हो सकता है। अतः जो स्वयं बँधा हुआ है वह दूसरे को बन्धन से नहीं छुड़ा सकता है। इसीलिए जब अणु-चैतन्य की मुक्ति का कारण सगुणब्रह्म है, तो निश्चय ही सगुण-ब्रह्म मुक्त पुरुष है।

मुक्त पुरुष किसको कहते हैं ? निगु णब्रह्म में पुरुष और प्रकृति दोनों ही स्वाधीन हैं, अतः वहाँ पुरुष अपनी स्वाधीनता के कारण प्रकृति के गुण से मुक्त है, इसीलिए मुक्त पुरुष निगु ण-ब्रह्म का पुरुष है। पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त होने से ही निगु ण का पुरुष हो जाता है, इसलिए वही मुक्तपुरुष है जो साधना द्वारा निगु णब्रह्म में पहुँच गया है या जिसने निगु णब्रह्म की उपलब्धि की है। निगुणब्रह्म की उपलब्धि करने से पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त हो जाता है, किन्तु वह पुरुष यदि जीव के कल्याण के उद्देश्य से

मुक्त पुरुष।

एक निर्दिष्ट समय के लिए अपनी इच्छा से फिर प्रकृति के बन्धन में आता है तो उसको भी हमलोग मुक्त पुरुष कहते हैं, क्योंकि प्रकृति ने अपनी शक्ति से उनको वश में नहीं किया है। वे स्वयं ही अपनी इच्छानुसार एक निश्चित समय के लिए प्रकृति के वश में आए हैं। वह निर्दिष्ट समय जब शेष हो जायगा तो प्रकृति उसको उसके बाद अपने वश में नहीं रख सकेगी। अतएव, जो पुरुष साधना द्वारा निर्गुणब्रह्म में पहुँच कर, उसकी उपलब्धि करके, जीव के कल्याण के उद्देश्य से एक निर्दिष्ट समय के लिए किसी निर्दिष्ट कारणवश अपनी इच्छा-नुसार फिर प्रकृति के वश में आता है, वही मुक्त पुरुष है।

जो मुक्त पुरुष है वह दूसरे के बन्धन का कारण नहीं हो सकता है। यहाँ बन्धन का अर्थ है प्रकृति के बन्धन में बंधना। अतएव, बन्धन का कारण होने का अर्थ है प्रकृति के गुण से गुणान्वित होना, क्योंकि प्रकृति ही तो उसको दूसरे को बांधने के लिए गुणयुक्त करेगी। मुक्त पुरुष जब प्रकृति के गुण से मुक्त है, तो वह दूसरे के बंधन का कारण हो कैसे सकता है? यदि वह दूसरे के बंधन का कारण होता है, तो वह स्वयं ही बंधन में आ जाता है। इसलिए मुक्त पुरुष कभी भी दूसरे के बंधन का कारण नहीं हो सकता है। सगुणब्रह्म जब मुक्त पुरुष है, तो वह भी दूसरे के बंधन का कारण नहीं हो सकता है।

सगुण ब्रह्म मुक्त पुरुष है, इसलिए वह दूसरे के बन्धन का कारण नहीं हो सकता है।

सगुणब्रह्म मुक्त पुरुष है, इसलिए वह दूसरे के बंधन का कारण नहीं हो सकता है, किन्तु सृष्टितत्त्व में देखते हैं कि सगुण-ब्रह्म की इच्छा से ही तो उनका प्रत्येक अणु प्रकृति के बंधन में आया है, जिसके कारण इस विराट् जगत् की सृष्टि हुई है। 'सगुणब्रह्म मुक्त' है का अर्थ है कि वह व्यापक रूप से मुक्त है, किन्तु उसके अणु पुरुष सभी तो मुक्त नहीं हैं, और वे सब जब सगुणब्रह्म की इच्छा से प्रकृति के बन्धन में आए हैं तब तो सगुणब्रह्म ही उनके बन्धन का कारण हो जाता है। सगुण-ब्रह्म जब अपने प्रत्येक अणु के बन्धन का कारण है, तो कहना पड़ता है कि वह भी स्वयं बन्धन में पड़ा है, किन्तु युक्तिपूर्वक अच्छी तरह पहले ही देख चुके हैं कि सगुणब्रह्म मुक्त पुरुष है। तब प्रश्न उठता है कि सगुणब्रह्म जब मुक्त पुरुष है, तो वह अपने प्रत्येक अणु को बन्धन में क्यों डालता है या जगत की सृष्टि का क्या कारण है? कहा जा चुका है कि जो मुक्त पुरुष है वह साधना द्वारा निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि करके जीव के कल्याणार्थ एक निश्चित समय के लिए अपनी इच्छानुसार प्रकृति के वश में आता है। अतएव, सगुणब्रह्म जब मुक्त पुरुष है,

तो उसको भी निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि करके

जगत् की सृष्टि अपनी इच्छानुसार एक निर्दिष्ट समय के
का कारण वा लिए जीव के कल्याण हेतु प्रकृति के वश में
उद्देश्य है प्रत्येक आना पड़ा है। सगुणब्रह्म से ही जब जीव
अणुचैतन्य को की सृष्टि है, अर्थात् उसी का प्रत्येक अणु जब

मुक्त कराना। उसी की कल्पनाधारा के अनुसार जीव का

रूप लेता है, तो कहना ही पड़ता है कि सगुणब्रह्म अपने प्रत्येक अणुपुरुष के कल्याण के लिए अपनी इच्छा से प्रकृति के बंधन में एक निर्दिष्ट समय के लिए आया है। अणुपुरुष का कल्याण क्या है ? कहा जा चुका है कि पुरुष का असली रुप है निर्गुण ब्रह्म, जहाँ प्रकृति पुरुष को गुणान्वित नहीं कर पाती है। अतएव, प्रकृति द्वारा गुणान्वित होने से पुरुष अपने असली रूप में नहीं रह सकता है। इसलिए अणुपुरुष का कल्याण करना है उसको प्रकृति के गुण से मुक्त कराना या उसको उसके असली रूप में ले जाना या उसको निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि कराना। इस तरह हम देखते हैं कि सगुणब्रह्म जैसे स्वयं ही मुक्त पुरुष है उसी तरह वह चाहता है कि उसका प्रत्येक अणु उसी के ऐसा मुक्त हो, और इसी उद्देश्य को लेकर वह स्वयं एक निर्दिष्ट समय के लिए प्रकृति के वश में आकर उनलोगों को प्रकृति के बंधन में डाल देता है। जब यही उसकी इच्छा है, तो निर्दिष्ट समय को इतने दिनों का होना पड़ेगा जितने दिनों में उसका प्रत्येक अणु उसी जैसा मुक्त पुरुष न हो जाय या जब तक वे सब प्रकृति के बंधन से छुटकारा न पा जाएं।

यहाँ फिर एक प्रश्न उठता है कि सगुणब्रह्म जब स्वयं ही मुक्तपुरुष हैं तो वह सर्वशक्तिमान है, क्योंकि प्रकृति या शक्तिको जय करके ही न वह मुक्त पुरुष हुआ ? यह सर्वशक्तिमान सगुणब्रह्म इच्छा होने से ही अपने प्रत्येक अणु को अपनी शक्ति

द्वारा मुक्त करा सकता है, किन्तु ऐसा न करके उसने प्रत्येक अणु को प्रकृति के बंधन में क्यों छोड़ दिया है, जिसके फलस्वरूप यह सृष्टि हुई है, अर्थात् सगुणब्रह्म ने सृष्टि क्यों की ?

जब सगुणब्रह्म की इच्छा है कि उसका सभी अणु उसी के समान मुक्तपुरुष हो तो उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए पहले उसको अपने को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देना होगा, तभी वह प्रत्येक अणु को मुक्त करा सकेगा। दर्शन में अणुशब्द का अर्थ है किसी वस्तु का सबके छोटा अंश, इसलिए अणु-चैतन्य का अर्थ हुआ चैतन्य का सबसे छोटा अंश। अब देखें सगुणब्रह्मने अपने पुरुष को किस तरह अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट दिया है या अपने पुरुष को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँटने के किए सगुणब्रह्म को क्या करना पड़ा है। सगुणब्रह्म के पुरुष को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देने के लिए उसको स्थूल रूप लेना पड़ा है, क्योंकि जो वस्तु सूक्ष्म है उसका भाग नहीं किया जा सकता है। जैसे, आग जो तेजस् तत्त्व का एक विशेष अंश है मिट्टी या क्षितितत्व से अधिक सूक्ष्म है। इसको क्या बाँट सकते हैं ? दियासलाई की दो काठी जलाने से हम दोनों ही जगह आग पाते हैं, किन्तु दोनों जगह की आग को यदि सटा कर रक्खें तो दोनो जगह वाली आग एक हो जायगी और उस समय हम यह नहीं कह सकते हैं कि कौन आग किस सलाई की काठी की है, अर्थात् उस समय दोनों आग का अलग अलग अस्तित्व (line of demarcation) हम लोग खोजने पर भी नहीं पाते हैं। उस समय हम केवल एक ही वस्तु पाते हैं-

द्वारा मुक्त करा सकता है, किन्तु ऐसा न करके उसने प्रत्येक अणु को प्रकृति के बंधन में क्यों छोड़ दिया है, जिसके फलस्वरूप यह सृष्टि हुई है, अर्थात् सगुणब्रह्म ने सृष्टि क्यों की ?

जब सगुणब्रह्म की इच्छा है कि उसका सभी अणु उसी के समान मुक्तपुरुष हो तो उसकी इच्छा की पूर्त्ति के लिए पहले उसको अपने को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देना होगा, तभी वह प्रत्येक अणु को मुक्त करा सकेगा। दर्शन में अणुशब्द का अर्थ है किसी वस्तु का सबके छोटा अंश, इसलिए अणु-चैतन्य का अर्थ हुआ चैतन्य का सबसे छोटा अंश। अब देखें सगुणब्रह्मने अपने पुरुष को किस तरह अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट दिया है या अपने पुरुष को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँटने के किए सगुणब्रह्म को क्या करना पड़ा है। सगुणब्रह्म के पुरुष को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देने के लिए उसको स्थूल रूप लेना पड़ा है, क्योंकि जो वस्तु सूक्ष्म है उसका भाग नहीं किया जा सकता है। जैसे, आग जो तेजस् तत्त्व का एक विशेष अंश है मिट्टी या क्षितितत्व से अधिक सूक्ष्म है। इसको क्या बाँट सकते हैं ? दियासलाई की दो काठी जलाने से हम दोनों ही जगह आग पाते हैं, किन्तु दोनों जगह की आग को यदि सटा कर रक्खें तो दोनो जगह वाली आग एक हो जायगी और उस समय हम यह नहीं कह सकते हैं कि कौन आग किस सलाई की काठी की है, अर्थात् उस समय दोनों आग का अलग अलग अस्तित्व (line of demarcation) हम लोग खोजने पर भी नहीं पाते हैं। उस समय हम केवल एक ही वस्तु पाते हैं-

भाग। दोनों आग को एक कर देने पर जब उसका अलग-अलग अस्तित्व नहीं पाते हैं या उसका line of demarcation खोजने पर भी नहीं पाते हैं, तो इससे क्या यह मालूम नहीं होता है कि आग का भाग नहीं कर सकते हैं? किन्तु, यदि दो जगह की धूलि कण को सटा कर रक्खें, तब भी हम दोनों का अलग अलग अस्तित्व पाते हैं। वे आग की तरह मिलकर एक नहीं हो जाते हैं, अतएव हमलोग मिट्टी का भाग कर सकते हैं। देखते हैं कि आग का भाग नहीं किया जा सकता है, लेकिन मिट्टी का किया जा सकता है। आग मिट्टी से सूक्ष्म है, किन्तु आकाश और वायु से स्थूल है। जब आग का ही भाग नहीं कर सकते हैं, तो वायु, आकाश, या भूमा-चैतन्य जो आग से अधिक सूक्ष्म हैं, उनका भाग कैसे कर सकते हैं? ठीक आग की ही तरह जल या तरल पदार्थ का भी भाग नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उसका भी भाग करने पर line of demarcation हम खोज नहीं पाते हैं। इस तरह देखते हैं कि केवल मिट्टी या क्षितितत्त्व को ही ठीक तरह से इच्छानुसार भाग कर सकते हैं। क्षितितत्त्व ही सृष्टि में सबसे स्थूलतत्त्व है और उसी को ठीक तरह से इच्छानुसार भाग कर सकते हैं, इसलिए सगुणब्रह्म के पुरुष को निज को ही अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँटने के लिए क्षितितत्त्व या सबसे स्थूलतत्त्व का रूप लेना

सगुण ब्रह्म सर्वशक्तिमान होकर भी बिना सृष्टि किए अपनी देह को अणुभाग में नहीं बाँट सकता है,

इसलिए उसने इस विराट जगत् की सृष्टि की है

पड़ा है। यह न होने से वह अपने को अणु-रूप में कैसे बाँट सकता है? इस तरह देखते हैं कि सगुणब्रह्म ने अपने को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँटने के लिए स्थूल रूप लिया है, अतएव हमलोग कह सकते हैं कि सृष्टि की सूक्ष्म से स्थूल की ओर गति या स्थूल जगत् की सृष्टि सगुणब्रह्म के पुरुष को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देने के लिए हुई है, अर्थात् सगुणब्रह्म ने अपनी देह को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देने के लिए क्षितितत्त्व में स्थूलरूप लिया है। क्षिति-तत्त्व में सगुणब्रह्म के पुरुष को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य के रूप में पाते हैं या क्षितितत्त्व से ही अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की सृष्टि होती है। इस तरह ब्रह्म को अणुचैतन्य रुप में क्षिति-तत्त्व में पाते हैं, अर्थात् सगुणब्रह्म ने अपनी देह को अणु-चैतन्य में बाँटने के लिए है ही क्षितितत्त्व की सृष्टि की है, जिसके फलस्वरूप वह जगत् सृष्टि का कारण होता है। तो देखते हैं कि सगुब्रह्म सर्वशक्तिमान होकर भी अपनी देह का इच्छा-नुसार भाग नहीं सकता है।

क्षितितत्त्व में ही अनन्त संख्यक अणुचैतन्य की सृष्टि हुई है और सगुणब्रह्म की जब इच्छा है अपने प्रत्येक अणु-चैतन्य को मुक्त करा देना तो जिस तरह उसने अपनी ही इच्छा से क्षितितत्त्व में एकदम स्थूल रूप लिया है या क्षिति-तत्त्व में प्रकृति के चरमगुण प्रभाव से गुणान्वित हुआ

सृष्टि की सूक्ष्म से स्थूल में आने का कारण है पुरुषकी देह को अणुअंश में बाँटना और सूक्ष्म की ओर आने का कारण है उन सबों को मुक्त कराना।

है, उसी तरह फिर अपनी ही इच्छानुसार सूक्ष्म की ओर भी वापस जा रहा है, अर्थात् वह प्रकृति के गुण से धीरे-धीरे मुक्त हो रहा है। चैतन्य का प्रकृति के गुण से मुक्त होने का अर्थ है चैतन्य का विकाश होना या उसका स्वरूप में वापस चला जाना। अतएव, सृष्टि की स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में हम-लोग अणुचैतन्य का क्रम विकाश पाते हैं, यानी अणुचैतन्य क्रमशः प्रकृति के गुण से मुक्त होता है या अपनी असल रूप की ओर वापस जाता है। तो देखते हैं कि सृष्टि का सूक्ष्म की ओर जाने का कारण है पुरुष का अपनी देह को अणु में बाँट देना और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का हेतु है उसी अणुचैतन्य को प्रकृति के गुण से मुक्त करना। सगुणब्रह्म का उद्देश्य है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त करना और इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसको सृष्टि करनी पड़ती है, जिसकी गति हम सूक्ष्म से स्थूल और फिर स्थूल से सूक्ष्म की ओर पाते हैं, अर्थात् सगुणब्रह्म की जगत् सृष्टि का उद्देश्य या कारण है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त करना।

देखिए यह जो सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है इससे सगुणब्रह्म का उद्देश्य किस तरह पूरा होता है। सगुणब्रह्म का उद्देश्य है कि उसकी देह का प्रत्येक अणु उसी जैसा मुक्त हो जाए और इसी उद्देश्य से उसने

अपनी देह को चितितत्त्व में अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट दिया है। चितितत्त्व में आकर जब वह अपनी देह को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देता है उस समय उसका प्रत्येक अणुचैतन्य जड़ हो जाता है, अर्थात् प्रकृति के चरमगुण से प्रभावित हो जाता है। सगुणब्रह्म जब स्वयं ही मुक्त पुरुष है तो वह किसी के बंधन का कारण नहीं हो सकता है। जब वह अपने को अनन्त संख्यक अणुचैतन्य में बाँट देता है तो उसका अणुचैतन्य बंधन में पड़ जाता है और इसी कारण सगुण ब्रह्म को फिर उन सबों को प्रकृति के गुण से मुक्त कराना पड़ता है। इसी कारण हम लोग सृष्टि की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर पाते हैं, अर्थात् प्रत्येक अणुचैतन्य धीरे-धीरे सगुणब्रह्म की इच्छा के गुण से मुक्त हो रहा है।

कहा जा चुका है कि मुक्त पुरुष होने के लिए निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि करनी होगी। जब सगुणब्रह्म की इच्छा है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त कराना तो उसी की इच्छानुसार प्रत्येक अणु को निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि करनी होगी। अब देखें सगुणब्रह्म की इच्छानुसार उसका प्रत्येक अणु निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि कर सकता है या नहीं, अर्थात् सगुणब्रह्म अपने प्रत्येक अणु को निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है या नहीं।

सगुणब्रह्म ने अपनी देह को अणु में बाँटने के लिए चिति-तत्त्व की सृष्टि की है। सृष्टि सगुणब्रह्म की कल्पना या चिन्ता-

धारा है। अतएव, सगुणब्रह्म की चिन्ताधारानुसार उसकी देह क्षितितत्त्व में आकर अनन्त संख्यक अणुचैतन्य होती है। इस तरह देखते हैं कि प्रत्येक अणुचैतन्य सगुणब्रह्म की कल्पना का ही फल है। कहा जा चुका है कि कल्पना या चिन्ताधारा मन का ही एक काम है और इसकी सीमा कल्पना करनेवाले के मन के ही भीतर रहता है। जैसे–राम की कल्पना में चौरंगी राम के ही के मन के भीतर सीमित है, इसीलिए श्याम का मन उसको नहीं देख सकता है। कल्पना जब कल्पना करनेवाले के मन में ही सीमित है तो सगुणब्रह्म की कल्पना में सृष्ट अणुचौतन्य उसी के मन में सीमाबद्ध है, इसलिए वह सगुणब्रह्म के मन से बाहर नहीं जा सकता है। जब देखते हैं कि सगुणब्रह्म की कल्पना में अणुचौतन्य की सृष्टि करता है और कल्पना में सृष्ट होने के कारण जब उन सबों की गति सगुणब्रह्म के मन के ही भीतर सीमित है, तब सगुणब्रह्म की इच्छा से वे कैसे उसके मन के बाहर जाते हैं? निर्गुणब्रह्म सगुण के मन से बाहर है, अतएव सगुणब्रह्म की इच्छा से उसके सभी अणु निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि नहीं कर सकते हैं। सगुणब्रह्म की इच्छा से उसके सभी अणुचौतन्य नि–र्गुणब्रह्म की उपलब्धि नहीं कर सकते हैं या सगुणब्रह्म अपने सभी अणु को निर्गुणब्रह्म की प्राप्ति नहीं करा सकता है, तो

सगुणब्रह्म सर्व शक्तिमान होकर भी अपने प्रत्येक अणु को अपनी शक्तिद्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करा सकता है।

सगुणब्रह्म की इच्छानुसार उसके सभी अणुचैतन्य मुक्त पुरुष कैसे होते हैं? सगुणब्रह्म की इच्छानुसार जब अणुचैतन्य सभी निर्गुण की उपलब्धि नहीं कर सकते हैं तब तो सगुणब्रह्म की अपने प्रत्येक अणु को अपने ही जैसा मुक्त पुरुष करानेवाली इच्छा पूरी नहीं होती है, अतएव सगुणब्रह्म की सृष्टि का उद्देश्य निरर्थक हो जाता है। तब प्रश्न उठता है कि जब सगुणब्रह्म अपने प्रत्येक अणु को मुक्त पुरुष कराने के लिए स्वयं ही मुक्त पुरुष बन कर फिर प्रकृति के वश में आया है, किन्तु अपनी इच्छानुसार प्रत्येक अणु को मुक्त पुरुष नहीं बना सकता है, तब वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या करता है या किस तरह उसका यह उद्देश्य सिद्ध होता है?

ब्रह्म अनादि है, इसलिए पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं। कहा जा चुका है कि ब्रह्म के विशेष देश में पुरुष को अघन अवस्था में पाकर प्रकृति उसको गुणान्वित करती है और उसी
विशेष देश को हम सगुणब्रह्म कहते
पहले सगुणब्रह्म हैं। ब्रह्म जब अनादि है, तो उसके इस विशेष
बंधन में था फिर देश में पुरुष का अघन अवस्था होना भी
साधना करके वह अनादि काल से ही है। पुरुष का अघन
मुक्त पुरुष हुआ। अवस्था जब अनादि काल से है, तब तो प्रकृति
भी उसको अनादि काल से ही गुणान्वित कर रही है। प्रकृति के इस गुण के कारण सगुणब्रह्म को अनादिकाल से बंधन में पड़ा हुआ पुरुष कहना पड़ता है, क्योंकि अनादि काल से ही न प्रकृति

उसके इस अभग्न अवस्था को पाकर उसको गुणान्वित कर रही है, किन्तु अभी युक्ति द्वारा देख चुके हैं कि सगुणब्रह्म मुक्त पुरुष हैं। इस प्रकार हमलोग देखते हैं कि पहले सगुणब्रह्म का पुरुष बंधन में पड़ा हुआ था और अब वह मुक्त है। यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि जब प्रकृति और पुरुष को छोड़ कर तीसरी कोई चीज नहीं है और प्रकृति के गुण से पुरुष जब बंधन में था, तो पुरुष को किसने मुक्त किया? पुरुष और प्रकृति को छोड़ कर जब तीसरी चीज का अस्तित्व पाया नहीं जाता है और
पुरुष को प्रकृति के गुण से बंधा हुआ पाते हैं,
इसी तरह प्रकृति तो निश्चयही पुरुष को ही अपनी चेष्टा द्वारा
के बंधन में पड़ा प्रकृति के गुण से मुक्त होना पड़ा है। यह जो
हुआ पुरुष साधना प्रकृति के गुण से मुक्त होने की चेष्टा है, इसी
द्वारा मुक्त हो को साधना कहते हैं। जब देखते हैं कि सगुण
सकता है। ब्रह्म पहले बन्धन में था और अब वह मुक्त
है, तो निश्चय ही वह साधना करके मुक्त हो
सका है। इससे यह साबित होता है कि बंधन में पड़ा हुआ पुरुष साधना द्वारा प्रकृति के गुण से मुक्त हो सकता है।

<u>सगुणब्रह्म जब मुक्त पुरुष नहीं था उस समय उसका नाम प्रजापति था और जब वह साधना द्वारा मुक्त पुरुष हुआ तब उसका नाम हुआ हिरण्यगर्भ।</u>

अणुपुरुष या अणुचैतन्य को सगुणब्रह्म निर्गुण की उपलब्धि नहीं करा सकता है, फलस्वरूप सगुणब्रह्म का उद्देश्य

सफल नहीं हो पाता है। यदि अणुचैतन्य प्रजापति के समान साधना करके निर्गुणब्रह्म को उपलब्धि करे तभी सगुणब्रह्म का उद्देश्य सफल होगा। साधना का माने है चेष्टा करना और मुक्ति के लिए साधना का अर्थ है प्रकृति के गुण से मुक्त होने की चेष्टा करना। अणुचैतन्य जब समझ सकेगा कि वह प्रकृति के अधीन है, जिसके कारण प्रकृति उसको गुणान्वित करती है, तभी न वह प्रकृति की अधीनता को दूर कर स्वरूप में वापस जाने की चेष्टा करेगा ? जो अपनी पराधीनता समझ ही नहीं रहा है उसकी पराधीनता से मुक्ति का सवाल ही नहीं उठता है। अतएव पराधीनता से मुक्त होने के लिए पराधीनता का बोध होना जरूरी है, जिससे वह समझ सकेगा कि वह पराधीन है और जब वह समझेगा कि वह पराधीन है, तब पराधीनता से मुक्त होने के लिए उपाय ढूँढने की जरूरत पड़ती है जिससे वह स्वाधीन हो सकेगा। पराधीनता से मुक्त होने के लिए जब ये दोनों चीजें जरूरी हैं, तब तो अणुचैतन्य को इन दोनों चीजों की आवश्यकता है, अर्थात् उसके चैतन्य का इतना विकाश होना जरूरी है जिससे वह समझ सके कि वह पराधीन है और उस पराधीनता से मुक्त होने का उपाय ढूँढ़ सके। क्षितितत्त्व में, जहाँ अणुचैतन्य की सृष्टि होती है, उसको जड़ रूप में पाते हैं। चैतन्य के विकाश की कमी से वह जड़ पदार्थ पराधीनता से अपनी मुक्ति का उपाय भला क्या ढूँढेगा जब उसको अपने अस्तित्व का ही बोध नहीं

है? इसी कारण वह साधना करके मुक्त नहीं हो सकता है। क्षितितत्त्व में अणुचैतन्य की सृष्टि हुई है, जहाँ वह जड़ है, और प्रकृति के चरम गुण से गुणान्वित है। सगुणब्रह्म का उद्देश्य अपने प्रत्येक अणु को मुक्त कराना है, किन्तु इसको वह पूर्णरूप से नहीं कर सकता है। इसलिए वह अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए जहाँ तक उसकी शक्ति है वहाँ तक अणुचैतन्य को प्रकृति के गुण से मुक्त करा देता है। इसी कारण मनुष्य में चैतन्य का विकाश व्यापक रूप से पाते हैं; क्योंकि मनुष्य को उसकी सृष्टि के शेष पर्याय में पाते हैं, जहाँ वह अणुचैतन्य को व्यापक रूप से प्रकृति के गुण से मुक्त करा देता है। कहा जा चुका है कि चैतन्य के विकाश का अर्थ है प्रकृति के गुण से मुक्त होना। अतएव, अणुचैतन्य के व्यापक विकाश का अर्थ है प्रकृति के गुणसे व्यापक भावसे मुक्त होना, किन्तु व्यापकता पूरा नहीं है इसीलिए मनुष्य पूर्णरूप से सगुणब्रह्म की इच्छानुसार प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं हो पाता है। मनुष्य का अणुचैतन्य व्यापक भाव से विकशित है, इसीलिए वह पराधीनता समझ पाता है और उससे मुक्त होने के लिए चेष्टा या साधना कर सकता है। सगुणब्रह्म अपनी शक्ति द्वारा अपने प्रत्येक अणुचैतन्य को मुक्त नहीं कर पाता है, फलस्वरूप उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता है। इसी कारण वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य की

केवल साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य की सृष्टि हुई है।

सृष्टि करता है, जहाँ उसके प्रत्येक अणु का व्यापक विकाश है जिसके कारण मनुष्य प्रजापति जैसा ही साधना करके मुक्त हो जाता है। सगुणब्रह्म अपनी शक्ति द्वारा अपने प्रत्येक अणु को मुक्त नहीं कर पाता है, तब अगर उसका प्रत्येक अणु प्रजापति जैसा साधना द्वारा मुक्ति लाभ करे तभी सगुणब्रह्म का उद्देश्य पूरा हो सकेगा। अतएव, सगुण-ब्रह्म ने मनुष्य की सृष्टि एक मात्र साधना द्वारा मुक्त पुरुष बनने के लिए ही किया है। मनुष्य की सृष्टि जब केवल साधना द्वारा मुक्ति लाभ करने के ही हेतु है, तब जो मनुष्य मुक्त बनने के लिए साधना नहीं करता है क्या वह सगुणब्रह्म या भगवान की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाता है या भगवान के उद्देश्य को क्या व्यर्थ नहीं कर रहा है ?

हम यह देखते हैं कि सगुणब्रह्म मुक्त पुरुष होने के कारण वह अपने प्रत्येक अणु के बंधन का कारण नहीं हो सकता है, इसलिए जब वह अपने प्रत्येक अणु को प्रकृति के बंधन में छोड़ देता है तो निश्चय ही उसका उद्देश्य रहता है अपने प्रत्येक अणु को अपने ही जैसा मुक्त पुरुष बनाना। युक्ति द्वारा देखते हैं कि सगुणब्रह्म अपनी शक्ति द्वारा अपने प्रत्येक अणु को जब पूरी तरह प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं करा सकता है तब वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने

मनुष्य की सृष्टि

प्रत्येक अणु में चैतन्य का व्यापक विकाश

के लिए ही सगुण ब्रह्म को इस अनन्त जगत् की सृष्टि करनी पड़ी है।

करता है जिससे वह साधना द्वारा मुक्त पुरुष बन सके। पृथिवी में देखते हैं कि केवल मनुष्य में ही चैतन्य का व्यापक विकाश है जिससे वह साधना द्वारा मुक्त हो सकता है और इस तरह सगुणब्रह्म का उद्देश्य पूरा होता है। अतः इससे यही कहा जा सकता है कि मनुष्य की सृष्टि के लिए ही सगुणब्रह्म को जगत् की सृष्टि करनी पड़ी है जिसकी गति हम सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर पाते हैं।

सगुणब्रह्म ने अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए मनुष्य की सृष्टि करके उसमें उनके चैतन्य का व्यापक विकाश किया है जिससे मनुष्य साधना करके पूरी तरह प्रकृति के गुण से मुक्त हो सकता है। कहा जा चुका है कि मनुष्य सगुणब्रह्म की कल्पनाधारा का शेष पर्याय है। फलतः मनुष्य की सृष्टि सगुण-ब्रह्म की सर्वशक्ति के प्रयोग से हुई है और मनुष्य को हम सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ जीव पाते हैं।

मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ जीव है।

मनुष्य सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ जीव है और उसमें सगुणब्रह्म का अणुचैतन्य व्यापक रूप से विकशित है। कहा जा चुका है कि ब्रह्म अणुचैतन्य की ही समष्टि है, अतएव मनुष्य सगुण-ब्रह्म का अणुअंश है। अब देखिए इस अणुअंश और भूमा में अन्तर कहाँ है।

मनुष्य का चैतन्य सगुणब्रह्म से उत्पन्न पंचभूत का बना हुआ एक आधार में है, किन्तु सगुणब्रह्म का चैतन्य किसी आधार पर नहीं है, यानी सगुणब्रह्म या भगवान का कोई शरीर नहीं है। सगुणब्रह्म या भगवान का कोई शरीर क्यों नहीं है ? मनुष्य सगुणब्रह्म के मन के भीतर है और उसकी सृष्टि होती है सगुण-ब्रह्म की कल्पनाधारा के अनुसार, अतएव मनुष्य की देह की सृष्टि सगुणब्रह्म की कल्पना में होती है। सगुणब्रह्म के मन के भीतर रहने के कारण मनुष्य सगुण की कल्पना में देह पाता है। इसी तरह सगुणब्रह्म भी यदि किसी के मन के भीतर रहे, अर्थात् सगुणब्रह्म की सृष्टि भी यदि किसी और की कल्पना में हो तो वह भी मनुष्य जैसा ही देह पा सकता है। सगुणब्रह्म अनादि

सगुणब्रह्म और मनुष्य की तुलना।

तथा अनन्त है, अतएव वह किसी के मन के भीतर नहीं है, और इसीलिए उसकी देह की सृष्टि नहीं होती है, इसी कारण सगुणब्रह्म या भगवान की देह नहीं देखते हैं। मनुष्य का चैतन्य व्यापक रूप से विकशित है और सगुणब्रह्म का चैतन्य पूर्णरूप से विकशित है। सगुणब्रह्म की तरह मनुष्य भी मन या अन्तःकरण पाता है। मनुष्य का चैतन्य जिस तरह भूमा चैतन्य का अणु अंश है, उसी तरह उसका मन भी सगुणब्रह्म के मन का अणु अंश है। सगुणब्रह्म ने जिस तरह अपने मन द्वारा कल्पना में सृष्टि बनाई है, मनुष्य भी अपनी कल्पना में उसी तरह सृष्टि बना

सकता है। कहा जा चुका है कि राम किस तरह भागलपुर में बैठकर अपनी कल्पना में कलकत्ता की चौरंगी बनाता है, सगुणब्रह्म की कल्पना में बने हुए जगत् को हम देखते हैं और मन में सत्य समझते हैं, किन्तु मनुष्य की कल्पना को कल्पना करनेवाले को छोड़कर और कोई नहीं देख सकता है। इसका क्या कारण है? कहा जा चुका है कि जगत् की उत्पत्ति सगुणब्रह्म के मन के भीतर हुआ है, अतएव, मनुष्य सगुणब्रह्म के मन के भीतर ही है, इसलिए सगुणब्रह्म की कल्पना मनुष्य देख पाता है। विराट् यानी सगुणब्रह्म जब कल्पना को मन में सत्य समझता है तो अणु को भी वैसा ही समझना पड़ता है, इसीलिए मनुष्य सगुणब्रह्म की कल्पना यानी उनके सृष्ट जगत् को सत्य समझ रहा है। राम का मन उसकी देह के भीतर सीमित है, इसलिए श्याम का मन उसके मन के भीतर नहीं जा सकता है। इसी कारण राम की कल्पना केवल राम ही देखता है और जितनी देर वह कल्पना करता है उतनी देर वह उसको अपने मन में सत्य ही समझता है। श्याम राम के मन के भीतर न होने के कारण वह उसकी कल्पना को नहीं देख पाता है। श्याम का मन यदि राम के मन के भीतर होता तो राम की कल्पना में सृष्ट चौरंगी को श्याम भी देख पाता और राम की तरह वह काल्पनिक चौरंगी उसको भी मन में सत्य प्रतीत होता। उदाहरण स्वरूप मदारी के खेल का दृष्टान्त पहले ही दिया जा चुका है।

इस तरह देखते हैं कि मनुष्य भी सगुणब्रह्म की तरह कल्पना में सृष्टि तैयार कर सकता है, किन्तु मनुष्य की कल्पना पूर्व अनुभूति सिद्ध है, अर्थात् वह जो भी कल्पना करता है उसकी विषय वस्तु को निश्चय ही उसने देखा है या किसी से उसके सम्बन्ध में सुना है तभी वह उस विषय की कल्पना कर सकता है। परन्तु ब्रह्म की कल्पना पूर्व अनुभूति सिद्ध नहीं है, इसलिए वह बराबर नया ही है। ब्रह्म की कल्पना पूर्व अनुभूति सिद्ध क्यों नहीं है? ब्रह्म अनादि है, अतः उससे पहले कोई भी नहीं था जिससे सुनकर वह अपनी कल्पना में उसका रूप देगा, और ब्रह्म अनन्त भी है इसलिए ब्रह्म से बाहर न कुछ है और न कुछ रह सकता है जिसको देखकर वह कल्पना में सृष्टि करेगा। अतएव, ब्रह्म की कल्पना सदा नई ही है, यानी वह न पूर्व अनुभूति सिद्ध है और न हो सकता है। सगुणब्रह्म का धर्म है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त पुरुष बनने का मौका देना और मनुष्य का धर्म है साधना करके मुक्त पुरुष होना।

मै कौन हूँ अथवा क्या हूँ ?

सृष्टि की स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति के क्रम में सबसे अन्त में मनुष्य की सृष्टि हुई है, जहाँ अणुचैतन्य ने व्यापक भाव से विकशित होकर सगुणब्रह्म की देह से उत्पन्न पंच-भूत से बना हुआ एक आधार का आश्रय लिया है। इसी व्यापक भाव से विकशित अणुचैतन्य का नाम आत्मा है और यह जो पंचभूत से बना हुआ अधार है, जिसका आश्रय लेकर आत्मा है, उसका नाम है मनुष्य की देह या शरीर। इस प्रकार मनुष्य में हम आत्मा और देह या शरीर पाते हैं। जब मनुष्य आत्मा और देह का समन्वय है तो मनुष्य न आत्मा है और न शरीर। यदि मनुष्य आत्मा होता तो "मेरी आत्मा है" ऐसा नहीं कहकर वह कहता कि मैं आत्मा हूँ। फिर मनुष्य यदि देह होता तो यह "मेरी देह" नहीं कह कर, कहता कि मैं देह हूँ। इस तरह देखते हैं कि मनुष्य न आत्मा है न देह। वह इन दोनों से एक भिन्न वस्तु है। मेरी आत्मा और मेरी देह कहने से मालूम होता है कि एक कोई है जो इस आत्मा और देह का मालिक है। मनुष्य में केवल आत्मा और देह पाते हैं, किन्तु वह न आत्मा

मैं न आत्मा हूँ न शरीर।

है न देह तब वह है कौन या मनुष्य का मालिक कौन है जिसके कारण वह समझता है कि यह आत्मा मेरी है और यह देह भी मेरी ही है. अर्थात् जब मैं न आत्मा हूँ. न शरीर, तो मैं कौन हूँ ?

मैंपन (purely I feeling) एक भावमय वस्तु है, क्योंकि गंभीर भाव से चिन्ता करके देखिए तो पाइएगा कि अपना अस्तित्व बोध केवल भावना या चिन्ता द्वारा किया जा सकता है। यह जो 'मैंपन' या 'मैं हूँ' का भाव है उसको मैं तभी समझ सकता हूँ जब मैं चैतन्य या ज्ञान पाऊँगा, क्योंकि चेतना या ज्ञान द्वारा ही मनुष्य चिंता या भावना या और कोई काम कर सकता है। इस तरह देखते हैं कि मेरा अस्तित्व या 'मैं हूँ' का भाव चैतन्य का सापेक्ष है, अर्थात् मुझ में ज्ञान या चेतना न रहने से मैं अपना अस्तित्व बोध नहीं कर सकता हूँ या 'मैं हूँ' भाव से भावित नहीं हो सकता हूँ। मेरी आत्मा हुई अणुचैतन्य या अणुपुरुष और इसके सगुणब्रह्म के भीतर रहने के कारण सगुणब्रह्म के पुरुष के ही अनुसार यह प्रकृति के गुण से गुणान्वित हो रही है। प्रकृति के सत्त्वगुण द्वारा मेरी आत्मा समझ पाती है कि 'मैं हूँ', यानी मेरी आत्मा की 'मैं हूँ' भावना की सृष्टि होती है। "मैं हूँ" भाव द्वारा ही मैं अपना अस्तित्व स्वीकार करता हूँ, अतः यह भाव ही 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ' भाव की सृष्टि मेरी आत्मा या अणुचैतन्य से तभी होती है जब वह प्रकृति के सत्त्वगुण से गुणान्वित होता है। अतएव,

मैं अपनी आत्मा की भावना मात्र हूँ।

'मैंपन' या 'मैं हूँ' का भाव या मैं (purely I feeling) प्रकृति द्वारा उत्पन्न एक भाव मात्र है, जिसकी उत्पत्ति आत्मा या अणु पुरुष पर प्रकृति के सत्त्वगुण के प्रभाव से होती है। इस तरह देखता हूँ कि मैं अपनी आत्मा की भावना हूँ या मेरी आत्मा जब प्रकृति के गुणवश सोचती है कि मैं हूँ तब ही मेरी सृष्टि या उत्पत्ति होती है। जब मैं अपनी आत्मा की भावनामात्र हूँ तो निश्चय ही मैं आत्मा नहीं हूँ या मेरी आत्मा "मैं" नहीं है। "मैं" आत्मा की भावना का सापेक्ष है, अर्थात् मेरा अस्तित्व मेरी आत्मा के ऊपर प्रकृति के गुण के प्रभाव से "मैं हूँ" भाव पर निर्भर करता है इसलिए अवश्य ही 'मैं' आत्मा नहीं हूँ, क्योंकि जिसका अस्तित्व एक दूसरी वस्तु का सापेक्ष है वह स्वयं सापेक्षमान वस्तु हो ही नहीं सकती है। जैसे, कुर्सी का अस्तित्व वृक्ष का सापेक्ष है, अतएव कुर्सी वृक्ष हो नहीं सकती है।

इस तरह देखते हैं कि 'मैंपन' या 'मैं'या 'मैं हूँ'का भाव (purely I feeling) मेरी ही आत्मा की एक भावना है जिसकी उत्पत्ति मेरी आत्मा के ऊपर प्रकृति के सत्त्वगुणी प्रभाव से होता है, इसलिए 'मैं' आत्मा नहीं हूँ, केवल उसकी एक भावना हूँ।

कहा जा चुका है कि अणुचैतन्य के ऊपर प्रकृति के सत्त्व-गुण के प्रभाव से बुद्धितत्त्व की सृष्टि होती है या मेरी आत्मा अथवा अणुचैतन्य सोचता है कि मैं हूँ। मेरी आत्मा के इस मैं

हूँ भाव का ही नाम बुद्धितत्त्व है, अतएव अपना बुद्धितत्त्व ही मैं हूँ। बुद्धितत्त्व मेरे मन का एक अंश है, क्योंकि बुद्धि तत्त्व, अहंतत्त्व, और चित्त, इन तीनों को मिला कर मन है, अतएव मैं अपने मन का ही एक अंश हूँ। इस तरह देखता हूँ कि मैं अपनी आत्मा नहीं हूँ, बल्कि मैं बुद्धितत्त्व हूँ जो मेरे मन का ही एक अंश है।

मैं अपने मन का केवल एक अंश हूँ।

जब मैं अपने मन का ही बुद्धितत्त्व हूँ, तो मेरे मन का अहंतत्त्व या चित्त ये सब कौन हैं? प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव से अहंतत्त्व की सृष्टि होती है, जहाँ बुद्धितत्त्व स्वयं ही अहंतत्त्व में विकशित होता है या आप ही अहंतत्त्व हो जाता है। फिर इस अहंतत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव से चित्त की सृष्टि होती है या अहंतत्त्व आप ही चित्त बन जाता है। इस तरह देखते हैं कि बुद्धितत्त्व या मैं-पन से ही अहंतत्त्व और चित्त की सृष्टि होती है अर्थात् मुझी को प्रकृति के रजोगुण और तमोगुण के कारण अहंतत्त्व और चित्त बनना पड़ता है। अतएव अहंतत्त्व और चित्त मेरा ही स्थूल-तर विकाश है या मेरा ही स्थूलरूप मात्र है। अपने मन का बुद्धितत्त्व ही असल में मैं हूँ और मन का अहंतत्त्व और चित्त जब मेरा ही रूपान्तर मात्र है, तो विवश हो कर

मुझ से ही मेरा मन बना है।

कहना पड़ता है कि मेरा मन मेरा ही विकाश मात्र है या मुझ से ही मेरा मन बनाया गया है।

आत्मा या अणुचैतन्य भूमापुरुष से उत्पन्न पंचभूत का बना हुआ शरीर का आश्रय लेकर रहता है। आत्मा के ऊपर प्रकृति के सत्त्वगुणी प्रभावसे बुद्धितत्त्व की सृष्टि होती है, फलतः मैं भी देह का आश्रय लेकर रहता हूँ। मेरा बुद्धितत्त्व का मेरे समूचे शरीर का आश्रय लेने के कारण मैं अपनी पूरी देह में अपने को पाता हूँ या मेरे मन में होता है कि मैं अपनी देह की सभी जगहों में हूँ। अपनी देह में सभी जगहों पर अपना अस्तित्व बोध करता हूँ जिस कारण जान पड़ता है कि मेरा समूचा शरीर ही मैं हूँ, किन्तु युक्ति द्वारा साबित होता है कि मैं देह नहीं हूँ। मैं अपना बुद्धितत्त्व हूँ और देह मेरा आधार मात्र है।

देह मेरा आश्रय मात्र है।

इस तरह साबित होता है कि मैं न आत्मा हूँ, न शरीर। मैं अपने मन का केवल बुद्धितत्त्व हूँ और मुझी से मेरे मन के दो और अंश—अहंतत्त्व और चित्त, बने हैं।

५

मेरे साथ जगत् और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है ?

निर्गुणब्रह्म ही ब्रह्म का स्वरूप है जहाँ पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त है, इसलिए हम कहते हैं कि पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त होते ही अपना असली रूप पाता है। इधर सगुणब्रह्म में हम पुरुष को प्रकृति के गुण से युक्त पाते हैं और सगुणब्रह्म ही भगवान हैं, अतएव हम देखते हैं कि सगुणब्रह्म, में जहाँ पुरुष प्रकृति के गुण से युक्त है, वह भगवान कह-लाता है। पुरुष जहाँ प्रकृति के गुण से मुक्त हो जाता है वह अपना असली रूप धारण करता है, यानी निर्गुण हो जाता है।

आत्मा ही भगवान है और उसका स्वरूप है निर्गुण।

हम लोगों की आत्मा सगुणब्रह्म के पुरुष का ही अणु अंश है. अतएव वह भी भगवान का ही अणु अंश हुआ। जब वह प्रकृति के गुण से मुक्त हो जायगा, तब वह निर्गुण ब्रह्म में मिल जायगा, यानी अपना असल रूप पायगा। इस युक्ति द्वारा कह सकते हैं कि हम लोगों की आत्मा ही भगवान है जब वह सगुणब्रह्म में है और उसका असल रूप निर्गुणब्रह्म का पुरुष है जहाँ वह प्रकृति के गुण से परे हो जाता है।

हमलोगों की आत्मा सगुणब्रह्म का पुरुष है, अतएव वह

भगवान है। पूर्व अध्याय में हम देख चुके हैं कि हमलोग अपनी आत्मा नहीं है। मेरा अस्तित्व आत्मा से अलग है। यह भी देख चुके हैं कि यद्यपि मेरा अस्तित्व आत्मा से अलग है तथापि मैं अपनी आत्मा का ही रूपान्तर मात्र हूँ। अतएव, मैं भगवान नहीं हूँ भगवान का केवल रूपान्तर हूँ। जैसे—राम थिएटर में शाहजहाँ बना है। थिएटर के स्टेज पर जब राम शाहजहाँ का पार्ट करता है उस समय हम उसको राम कहेंगे या शाहजहाँ ? शाहजहाँ कहेंगे। थिएटर का शाह-जहाँ तो राम का असल रूप नहीं है, वह तो राम का ही रूपान्तर है। जब तक वह शाहजहाँ का पार्ट करेगा तब तक उसको राम न कह कर शाहजहाँ कहेंगे। ठीक इसी तरह, जब तक मेरा 'मैंपन' रहता है तब तक मेरा अस्तित्व मेरी आत्मा या भगवान से अलग रहता है या मैं आत्मा का ही रूपान्तरित रूप रहता हूँ। इस तरह देखता हूँ कि मेरा 'मैंपन' ही मुझको भगवान या मेरी आत्मा से अलग करके रखता है। राम जब स्टेज पर शाहजहाँ का काम करेगा उस समय उसको हम राम नहीं कहेंगे, किन्तु जब उसका पार्ट खत्म हो जायगा तब वह अपना असली रूप धारण करेगा और तभी उसको हम राम कहेंगे। ठीक इसी तरह, जब मेरा 'मैंपन' छूटेगा तब मेरी आत्मा के बदले हुए

मैं अपनी आत्मा का ही रूपान्तर मात्र हूँ।

मेरा मैंपन ही मुझको भगवान से दूर रखता है और मुझको स्वरूप से भी दूर रखता है।

रूप का भी अन्त हो जायगा। फलस्वरूप, मेरी आत्मा अपना असली रूप धारण करेगी, अर्थात् वह निर्गुण का पुरुष हो जायगी, क्योंकि आत्मा प्रकृति के गुण के कारण ही अपना रूप बदलती है। आत्मा के बदले हुए रूप का अन्त होने का माने है उसका प्रकृति के गुण से छुटकारा पाना। इस तरह देखते हैं कि मेरा 'मैंपन' ही मुझको भगवान से अलग रखता है, यानी मेरी आत्मा को उसके असली रूप से दूर रखता है।

यद्यपि मैं अपनी ही आत्मा का रूपान्तर हूँ, किन्तु जब मेरा अस्तित्त्व आत्मा या भगवान से पृथक है या मैं जिस समय आत्मा या भगवान नहीं हूँ उस समय मैं जो काम करता हूँ या उसका फल भोग करता हूँ आत्मा उसको न करता है और न उसका फल भोगता है। जैसे—शाहजहाँ का रूप राम का ही रूपान्तर है, किन्तु स्टेज पर शाहजहाँ जो कुछ करता है या उसकी जो दशा होती है उससे क्या राम को कुछ होता है ? स्टेज पर रूपान्तरित शाहजहाँ का काम और उस काम का फल राम जैसे नहीं भोगता है ठीक उसी तरह मेरा काम और उसका फल मैं ही भोगता हूँ, आत्मा को इसका भोग नहीं करना पड़ता है। प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि "मैं जानता हूँ" यही भाव आत्मा है और "मैं हूँ" यह भाव ही वास्तविक मैं हूँ जिससे मैं अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता हूँ। अतः

आत्मा कोई काम नहीं करती है, अत एव वह काम का

फल भी नहीं एव मैं जो कुछ भी क्यों न करूँ मेरी आत्मा
पाती है। केवल 'मैं जानता हूँ' भाव से ही रहती है।
"मैं जानता हूँ" इस भाव से कोई काम करने
का तो बोध नहीं होता है, अर्थात् जो "मैं" जाननेवाला है
है वह "मैं" कोई भी काम नहीं करता है। वह केवल दर्शक
या साक्षी स्वरूप है और जो मैं "मैं हूँ" भाव से भावित
है वही मैं काम करनेवाला है। जो काम करता है वह
कर्त्ता कहलाता है और फल भोग भी वही करता है, अत-
एव जो मैं हूँ वही मैं काम करता हूँ और फल भी भोगता
हूँ। जो 'मैं' जानता है वह तो केवल दर्शक है। वह केवल
जानता है, फल नहीं भोगता है, क्योंकि वह तो काम करता
नहीं है। जैसे–राम एक फुटबाल मैच में दर्शक है, इस-
लिए वह केवल खेल देखता है। श्याम उस खेल का
एक खिलाड़ी है। खेल का फल कौन पायगा, राम
अथवा श्याम? श्याम ही तो पायगा, हार अथवा जीत
श्याम की ही होगी और थकेगा भी श्याम ही। राम केवल
बैठ कर श्याम की हार जीत तथा उसका थकना देखेगा।
राम खेल का कोई फल नहीं पाता है, क्योंकि वह तो
केवल दर्शक है। फल भोग श्याम करता है, क्योंकि वह
एक खिलाड़ी है। इस तरह हम देखते हैं
शरीर में आत्मा कि दर्शक न काम करता है और न काम
केवल दर्शक या का फल पाता है, वह केवल काम और

सान्तो स्वरूप है। उस काम के फल को जानता है। मेरी आत्मा जब मुझ में केवल दर्शक बन कर है तो वह केवल मेरा काम और उस काम के फल को देखता और जानता है। तो देखते हैं कि आत्मा कोई काम नहीं करती है, अतएव वह काम का फल भी नहीं पाती है। वह केवल मेरे काम और उसके फल का साक्षी स्वरूप मुझ में रहती है।

मैं अपना बुद्धितत्त्व हूँ, जिसके द्वारा मैं हूँ का भाव मैं पाता हूँ। 'मैं हूँ' कहने से मालूम होता है कि मुझे केवल अपने अस्तित्व का ज्ञान है। 'मैं हूँ' या मेरा अस्तित्व है यह कहने से काम करने का भाव नहीं आता है, अतएव बुद्धितत्त्व कोई काम नहीं करता है। प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि मेरा अहंतत्त्व, जिसकी सृष्टि बुद्धितत्त्व के ऊपर प्रकृति के रजोगुणी प्रभाव से हुई है, काम करता है। बुद्धितत्त्व से अहंतत्त्व की सृष्टि हुई है, अतएव अहंतत्त्व बुद्धितत्त्व नहीं है। वह बुद्धितत्त्व का स्थूल विकाश है। अब अहंतत्त्व काम करता है तो उसी को काम का फल भोगना चाहिए और बुद्धितत्त्व, जिसका अस्तित्व अहंतत्त्व से बिलकुल अलग है, कोई काम नहीं करता है, इसलिए उसको किसी काम का फल नहीं भोगना चाहिए। परन्तु गंभीरता पूर्वक विचार करने पर देखता हूँ कि, यदि मैं न रहूँ या मेरा अस्तित्व न रहे तो काम कौन करेगा? मैं हूँ तब न मैं काम करता हूँ, अर्थात् मैं हूँ की प्रेरणा या बुद्धि

से ही तो काम होता है ? इस तरह देखता हूँ कि, यद्यपि मैं हूँ का भाव या बुद्धितत्त्व स्वयं कोई काम नहीं करता है फिर भी मेरा अस्तित्व है तभी तो मैं काम करता हूँ ? अतएव, मै हूँ का सम्बन्ध काम से स्थापित हो जाता है और इसी लिए वह काम के फल के साथ भी सम्बन्धित हो जाता है। जैसे, दो जमीन्दारों में लड़ाई होती है। लड़ने वाले उनके आदमी जन हैं । यहाँ दोनों जमीन्दार बुद्धितत्त्व हुए और उनके आदमी जन, जो लड़ रहे हैं, वे अहंतत्त्व हुए। लड़ाई उनके आदमी जन कर रहे हैं, इसलिए चोट आदमी जन को ही लगेगी या मृत्यु भी आदमी जन की ही होगी, अर्थात् लड़ाई का फल लड़ने वाले आदमी जन ही पाएंगे । किन्तु यदि जमीन्दार न होते तो लड़ाई होती कहाँ से ? जमीन्दारों के होने से ही तो लड़ाई हुई, अर्थात् लड़ाई की प्रेरणा जमीन्दारों से हुई, तभी न लड़ाई शुरू हुई ? लड़ाई का प्रत्यक्ष फल उनके आदमी जन को मिला किन्तु जमीन्दार क्या फल भोगने से अलग रहे ? अप्रत्यक्ष रूप से वे भी फल पाते हैं। लड़ाई की हारजीत का फलाफल वे ही लोग पाएंगे । इस तरह हम देखते हैं कि बुद्धितत्त्व अप्रत्यक्ष भाव से काम से सम्बन्धित है, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से वह काम का फल भी पाता है।

अहंतत्त्व ही प्रत्यक्ष भाव से काम करता है, इसीलिए वह प्रत्यक्ष भाव से फल पाता है।

अहंतत्त्व प्रत्यक्ष भाव से काम करता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष

रूप से काम का फल पाता है।

प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि चित्त की सृष्टि अहं-तत्त्व के ऊपर प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव से हुआ है, अर्थात् अहंतत्त्व ने ही स्वयं को चित्त के रूप में विकशित किया है। इस तरह हम देखते हैं कि चित्त अहंतत्त्व का ही स्थूल विकाश है। यह भी देख चुके हैं कि चित्त बुद्धितत्त्व और अहंतत्त्व के काम का फल है, अर्थात बुद्धितत्त्व और अहंतत्त्व जो कुछ करता है चित्त को दसों इन्द्रियों की सहायता से वही रूप लेना पड़ता है। जैसे, कुर्सी देखने के लिए चित्त को ही कुर्सी का रूप लेना पड़ता है, फिर शब्द सुनने के लिए चित्त को ही शब्द का रूप बनना पड़ता है। चित्त अहंतत्त्व का स्थूल विकाश है, और अहंतत्त्व बुद्धितत्त्व का विकाश है। अतएव, चित्त बुद्धितत्त्व का ही स्थूलतम विकाश हुआ, अर्थात् चित्त मेरा स्थूल रूपमात्र है; चित्त जब कुर्सी का रूप लेता है,तभी हम कुर्सी देख पाते हैं; चित्त जब मेरा ही स्थूल रूप है तब मेरे ही स्थूल रूप को न कुर्सी का रूप लेना पड़ता है ? मेरा स्थूल रूप जब कुर्सी का रूप ग्रहण करता है, जिसके कारण मैं कुर्सी देख पाता हूँ, तो सचमुच में मैं कुर्सी देख रहा हूँ या अपना ही स्थूल रूप देख रहा हूँ ? मैं तो वास्तव में अपना ही स्थूल रूप देखता हूँ, जो कुर्सी का रूप तन्मात्र ग्रहण करके स्वयं ही कुर्सी का रूप बन जाता है। तो हम

मनुष्य कुछ भी करता है तो उसको स्वयं ही उस काम का फल बनना पड़ता है।

देखते हैं कि मनुष्य जो कुछ करता है उसको स्वयं ही उसका फल होना पड़ता है। जैसे, कुर्सी देखने का काम करने से मुझे स्वयं ही उस काम के फलस्वरूप कुर्सी का रूप बनना पड़ता है, फिर शब्द सुनने का काम करने के कारण मुझको स्वयं ही उसके फलस्वरूप शब्द बनना पड़ता है। इस तरह साबित होता है कि मैं आप ही अपने को देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूँघ रहा हूँ, स्पर्श कर कर रहा हूँ, इत्यादि।

बुद्धितत्त्व काम की प्रेरणा देता है. अहंतत्त्व प्रत्यक्ष भाव से काम करता है. और चित्त को उसी काम का फल बनना पड़ता है। बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त, इन तीनों को मिलाकर मन है, तो कहना पड़ता है कि मन ही काम करता है। अतएव, काम का फल भी मन ही पायगा, क्योंकि जो काम करता है वही काम का फल पाता है। आत्मा मन के बाहर है, इसीलिए वह काम नहीं करती है और काम का फल भी नहीं भोगती है। वह केवल दर्शक बन कर मनुष्य के शरीर में है।

मन काम करता है, इसलिए फल भी मन ही भोगता है।

निर्गुण अथवा ब्रह्म स्वरूप में पुरुष और प्रकृति दोनों ही स्वाधीन हैं, किन्तु सगुण में पुरुष को प्रकृति के अधीन पाते हैं, तभी न प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करके अपनी इच्छानुसार सृष्टि की रचना कर रही है? सगुण में पुरुष प्रकृति के अधीन है, इसलिए उसमें अपनी इच्छानुसार काम करने की

क्षमता नहीं रहती है। अपनी इच्छानुसार काम करने से प्रकृति, जिसके अधीन में वह है, उसको दंड देगी, जैसे नौकर स्वेच्छा से काम करने के कारण अपने मालिक से दंड पाता है। मनुष्य में चैतन्य का विकाश व्यापक होने के कारण वह अपनी पराधीनता समझ पाता है। फलतः वह प्रकृति को नहीं मानना चाहता है, इसीलिए वह प्रकृति के विरुद्ध काम करता है और प्रकृति भी उसको अपने वश में रखने के लिए दंड देती रहती है, जिसको मनुष्य कर्मफल के रूप में भोगता है।

कर्म का फल भोगना प्रकृति का विधान है।

अर्थात्, मनुष्य अपनी चेतना के विकाश के कारण अपनी इच्छानुसार काम करता है और प्रकृति उसको वश में करने के लिए कर्म-फल रूप में दंड देती है।

अब देखें हम कर्म कैसे करते हैं और उसका फल क्यों भोगना पड़ता है? कर्म मन द्वारा, अर्थात् बुद्धितत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त इन तीनों द्वारा करते हैं। कहा जा चुका है कि जो भी काम हम क्यों न करें हमलोगों के चित्त को ही उस काम का फल होना पड़ता है, अर्थात् चित्त को अपना स्वभाविक रूप छोड़कर उस कर्म के फल का रूप लेना पड़ता है। जैसे, कुर्सी देखने के लिए चित्त को कुर्सी का रूप लेना पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि जिस किसी भी काम को हम क्यों न करें हमलोगों के मन को

कर्म करने से ही मन विकृत होता है।

अपना स्वभाविक रूप छोड़कर विकृत होना पड़ता है। हम लोगों का मन प्रकृति सृष्टि वस्तु या तत्त्व है और चैतन्य उसको विकृत करता है, अर्थात् मालिक की बनाई हुई वस्तु को नौकर विकृत करता है। नौकर जब मालिक की बनाई हुई चीज को विकृत करता है, तो मालिक का क्या कर्त्तव्य होता है? उसका कर्त्तव्य होता है कि विकृत वस्तु को स्वभाविक रूप में लाना और नौकर को दन्ड देना। यही होता है न? अतएव मनुष्य जब विकाशित चैतन्य के कारण कर्म द्वारा अपने मन को विकृत करता है, तो प्रकृति फिर से मनुष्य के मन को स्वाभाविक रूप में लाती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने कर्मफल भोग के रूप में दण्ड पाता है। इस तरह देखते हैं कि प्रकृति का मनुष्य के मनको स्वभाविक रूप में वापस ले आने का ही नाम है कर्म-फल। मैंने अपने मनको जितनी शक्ति या जिस तरह के काम द्वारा विकृत किया है ठीक उतनी ही विपरीत शक्ति या विपरीत कार्य द्वारा ही प्रकृति उसको स्वभाविक रूप में लायगी, जैसे एक रबर का गेन्द जिसको दबाने से गढ़ा हो जाता है और छोड़ देने से फिर स्वभाविक रूप में आ जाता है। रबर के गेन्द में गढ़ा करने के लिए मेरी अंगुली का दबाव जितना उसके ऊपर प्रयोग किया गया था, उस गढ़ा

प्रकृति के विधान के मुताबिक फिर वह मन अपनी स्वभाविक अवस्था में आता है और तभी मनुष्य अपने कर्म का फल पाता है।

की पूर्ति होने के समय मेरी अंगुली उतनी ही विपरीत शक्ति का अनुभव करेगी। अर्थात्, रबर का गेन्द अपनी स्वभाविक अवस्था में वापस आने के लिए ठीक उतनी ही विपरीत शक्ति का प्रयोग मेरी अंगुली के ऊपर करेगा। यहाँ रबर का गेन्द मेरा मन हुआ और अंगुली मैं हूँ, अर्थात् मैं अपने काम द्वारा रबर के गेन्द रूपी मन पर विकृति लाता हूँ। जब रबर का गेन्द स्वभाविक रूप में आने लगता है, तब मैं भी उतनी ही विपरीत शक्ति या प्रतिफल (reaction) का अनुभव करता हूँ। इस तरह हमलोग देखते हैं कि मन का स्वभाविक अवस्था में आने के कारण प्रकृति का दोनों ही उद्देश्य पूरा होता है। पहला, मनका स्वभाविक रूप में आना और दूसरा, इसके फलस्वरूप मैं अपने कर्म का दन्ड पाता हूँ। जब प्रकृति सृष्ट मन का यही धर्म है, अर्थात् उसको विकृत करने से ही मनुष्य को उसका प्रति-फल भोगना पड़ेगा, तो मनुष्य जिस क़िस्म का भी काम क्यों न करे उसको उसका फल भोगना ही पड़ेगा। इस तरह देखते हैं कि अच्छा काम करने से अच्छा फल और बुरा काम करने से बुरा फल भोगना पड़ेगा, यही प्रकृति का विधान है। जैसे, मैंने चोरी की, जिस कारण मेरा मन विकृत हुआ और जिसकी चोरी हुई उसके मनमें दुख हुआ। मनमें कष्ट पहुँचाने वाली इसी शक्ति से मैंने अपने मनको विकृत किया, यानी मेरे इस कार्य के कारण एक मनुष्य को कष्ट हुआ। जब मन प्रकृति

के विधान द्वारा स्वभाविक अवस्था में वापस आने लगेगा उस समय उतना ही मानसिक कष्ट क्या मैं नही पाउंगा ? जिस प्रकार दूसरे के मन को मैंने दुखित किया है, ठीक उसी तरह और उतना ही मानसिक कष्ट मैं भी पाउँगा। इसी तरह यदि मेरे काम से किसी को आनन्द होता है, तो ठीक उतना ही आनन्द मैं भी पाउँगा। कोई काम करके ही मैंने किसी को आनन्दित किया है और उसी काम के द्वारा मेरा मन अपना स्वभाविक अवस्था छोड़ कर विकृत हुआ है। अतएव, मन जब स्वभाविक अवस्था में वापस आने लगेगा तब उसका प्रतिफल स्वरूप मैं उतना ही आनन्द पाउंगा। इस तरह हमलोग देखते हैं कि प्रकृति अपना पैदा किया हुआ मन रूपी यंत्र द्वारा हमलोगों को अपने-अपने कर्म का फल भोग कराती है। अत-एव, हमलोगों को कर्म करने से फल भोगना ही होगा, चाहे कर्म सु हो अथवा कु हो। मनुष्य कर्म किए बिना रह ही नहीं सकता है। चुपचाप यदि बैठा रहे, तब भी क्या काम नहीं कर रहा है ? शरीर से चुपचाप बैठा है, लेकिन चंचल मन तो बैठा नही है, वह बैठे-बैठे भी चुपचाप चिन्तन तथा कल्पना द्वारा काम कर रहा है। मन ही मन किसी का अनिष्ट कर रहा है, किसी की हिंसा कर रहा है, और फिर किस प्रकार दूसरों की भलाई होगी इसकी भी चिन्ता कर रहा है। यह क्या काम करना नहीं हुआ ? हम लोगों का शरीर जो भी काम करता है वह तो केवल मन का ही विकाश है, यानी मन ही दसों इन्द्रियों

द्वारा काम कराता है। कहा जा चुका है कि हमलोगों की दसों इन्द्रियाँ चित्त का ही विकाश हैं, अतएव जो भी शारीरिक काम हम करते हैं, वह मन ही करता है। काम दो प्रकार का पाते हैं–शारीरिक और मानसिक, अर्थात् मन का दसों इन्द्रियों की सहायता से काम करना और बिना उनकी सहायता के काम करना। दोनों ही जब काम हैं और काम के फलस्वरूप जब मन विकृत होता है, तब जो भी काम, शरीरिक अथवा मानसिक क्यों न करें, कर्मफल हम को भोगना ही पड़ेगा।

मनुष्य का अणुचैतन्य व्यापक रूप से विकशित होने के कारण वह अपनी पराधीनता समझ कर प्रकृति की अधीनता में और नहीं रहना चाहता है, इसलिए वह स्वाधीन भाव से प्रकृति के विरुद्ध काम करता है, जिसके कारण प्रकृति उसको कर्मफल रूप में दंड देती जाती है। मनुष्य को छोड़ कर पृथिवी पर और किसी में चैतन्य का विकाश व्यापक भाव से नहीं है, इसलिए मनुष्य के सिवा और कोई भी जीव स्वाधीन भाव से काम नहीं कर पाता है। स्वाधीन भाव से काम करने के लिए ही जब प्रकृति कर्मफल रूप में दंड देती है, तो यह साबित है कि मनुष्य को छोड़ कर और किसी भी जीव को कर्मफल नहीं भोगना पड़ता है।

मनुष्य के सिवा और किसी भी जीव को कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता है।

काम करने से फल भोगना ही पड़ेगा, वह सुकर्म हो अथवा

कुकर्म। मनुष्य बिना काम किए रह ही नहीं सकता है और वह मृत्यु के ठीक पूर्व मुहूर्त्त तक काम करता रहता है, यानी काम करते करते ही उसकी मृत्यु होती है। इसका फल कौन भोगेगा ? कहा जा चुका है कि जो कर्म करता है वही फल भोगता है, दूसरा उसको नहीं भोग सकता है। काम करते करते मनुष्य की मृत्यु होती है, इसलिए उसका फल भी उसी को भोगना पड़ेगा। अब प्रश्न उठता है कि मृत्यु के बाद फल का भोग कैसे करेगा, क्योंकि काम करने वाला मर गया और उसके शरीर को जला दिया गया या कब्र में डाल दिया गया, तो वह कर्म फल कैसे भोगेगा ?

आत्मा या अणुचैतन्य अजर अमर है, उसकी मृत्यु नहीं होती है। आत्मा ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर वापस जाने के रास्ते में अपने को व्यापक भाव से विकशित कर भूमा पुरुष द्वारा उत्पन्न पंचभूत से बनी मानव देह का आश्रय लिया है। आत्मा ने ज्योंही शरीर का आश्रय लिया साथ ही साथ प्रकति के गुण द्वारा उसने मन पाया, क्यों कि पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति और पुरुष कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते हैं। वे अंगांगि भाव से आपस में जुटे हुए हैं, यानी पुरुष रहने से प्रकति रहेगी ही और प्रकृति रहने से पुरुष रहेगा ही।

आत्मा की मृत्यु नहीं होती है और जब तक उसके ऊपर प्रकृति का प्रभाव रहेगा तब तक मन की मृत्यु नहीं होगी।

आत्मा अणुपुरुष है और उसके ऊपर प्रकृति के गुण के प्रभाव से मन की उत्पत्ति होती है, तो देखते हैं कि आत्मा रहने से ही मन रहेगा। मन ही द्वारा मैं अपना अस्तित्व बोध करता हूँ या समझता हूँ कि मैं हूँ। जब आत्मा की मृत्यु नहीं होती है, तो मन की भी मृत्यु नहीं होगी, यानी मैं हूँ भाव की मृत्यु नहीं होगी। अतएव, आत्मा जब शरीर का आश्रय लेती है, तब मैं हूँ भाव भी उसी शरीर का आश्रय ग्रहण करता है और आत्मा के शरीर त्याग देने पर उसके साथ अंगांगि भाव से जुटी प्रकृति भी उसके साथ ही चली जाती है, यानी प्रकृति के प्रभाव से सृष्ट मन भी शरीर को त्याग देता है। फलतः शरीर की मृत्यु होती है। इस तरह हम देखते हैं कि मृत्यु कहने से शरीर की मृत्यु समझी जाती है, आत्मा या मन की मृत्यु नहीं; केवल आत्मा और मन ने जिस शरीर का आश्रय लिया था उसको त्याग दिया है।

अतएव मृत्यु केवल देह की होती है।

अब देखिए आत्मा शरीर का त्याग क्यों करती है, यानी आत्मा एक ही शरीर का आश्रय ग्रहण कर तब तक क्यों नहीं रहती है जब तक वह भूमाचैतन्य में मिल जाती है? मेरा शरीर भूमाचैतन्य से उत्पन्न पंचभूत से बना है, और यह प्रकृति की इच्छानुसार बना है। 'पंचभूत से बना है' का माने हुआ कि यह स्थूल है और बहुत से अणुचैतन्य जो अभी भी सूक्ष्म से स्थूल की ओर आनेवाले पथ में ही हैं उन्हीं लोगों को

मिला कर हम लोगों का शरीर बना है। जब ये सब अणु-
चैतन्य सूक्ष्म से स्थूल के मार्ग में हैं, तो निश्चय ही प्रकृति की
इच्छानुसार इनमें परिवर्त्तन होगा, यानी जिन सब अणुचैन्तय
द्वारा मेरे शरीर का व्योमतत्त्व बना है वे सब वायुतत्त्व में
आवेंगे, फिर वायुतत्त्व अग्नितत्त्व होगा, अग्नितत्त्व जलतत्त्व
बनेगा, और जलतत्त्व क्षितित्त्व यानी मिट्टी
देह की मृत्यु होगा। इसके बाद क्षितितत्त्व सूक्ष्म की
अवश्यम्भावी है, ओर चलेगा। इस प्रकार देखते हैं कि
अर्थात् आत्मा सृष्टि के नियम में प्रकृति की इच्छानुसार
और मन को हमारे शरीर में परिवर्त्तन अवश्यम्भावी है।
शरीर त्यागना ही आत्मा जब तक भूमा-चैतन्य में जाकर
पड़ेगा। नहीं मिलती है तब तक यदि वह एक ही
शरीर का आश्रय लेकर ठहरे तो सृष्टि के
नियम का पालन नहीं होगा, क्योंकि जिस मनुष्य का
आश्रय करके आत्मा है उसके कर्म के कारण सम्भव है कि
आत्मा को भूमाचैतन्य में जाकर मिल जाने में कोटि-कोटि
वर्ष लगे। जब आत्मा को भूमाचैतन्य के साथ मिल जाने
में अनन्त कोटि वर्ष लगेंगे, तो वह अपनी देह का आश्रय करके
अनन्त कोटि वर्ष तक रहेगी। फलस्वरूप क्या होगा? जितने
अणुचैतन्य प्रकृति की इच्छानुसार सूक्ष्म से स्थूल की ओर जा
रहे हैं उन सबों की गति रुक जायगी। फलस्वरूप, सृष्टि में
विशृङ्खलता होगी। प्रकृति के नियम में विशृङ्खलता नहीं है।

उसके नियमानुसार सृष्टि कालान्तर में सूक्ष्म से स्थूल में आयगी ही। अतएव, मनुष्य को शरीर छोड़ना ही पड़ेगा। इस युक्ति द्वारा हम यह भी पाते हैं कि मनुष्य का यह पांचभौतिक शरीर जो असंख्य अणु चैतन्य की समष्टि है, एक दिन सृष्टि के नियमानुसार असंख्य आत्मा में परिणत होकर असंख्य शरीर का आश्रय ग्रहण करेगा।

इस तरह देखते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, यानी हमलोगों को यह शरीर छोड़ना ही पड़ेगा। मृत्यु कहने से आत्मा का शरीर त्यागना समझते हैं, और आत्मा के शरीर त्यागने का माने है साथ ही साथ प्रकृति-सृष्ट मन का भी शरीर छोड़ना। मन ही द्वारा मैं अपना अस्तित्व समझता हूँ, अर्थात् मैं समझता हूँ कि मैं हूँ। जब मन की मृत्यु नहीं हुई; अर्थात् मैं हूँ भाव जब रह ही गया, केवल उसने जिस शरीर का आत्मा के साथ आश्रय लिया था उसको छोड़ दिया, तो मेरी मृत्यु कहाँ हुई? मैं तो रह ही गया। इस तरह देखता हूँ कि मैं उतना दिन तक रहूँगा, जितना दिन तक आत्मा रहेगी और उसके ऊपर प्रकृति के प्रभाव से मन की सृष्टि होती रहेगी। जिस दिन प्रकृति का प्रभाव आत्मा के ऊपर से हट जायगा, यानी प्रकृति मन की सृष्टि और नहीं कर सकेगी उस दिन मैं फिर नहीं

आत्मा के ऊपर प्रकृति के प्रभाव से सृष्ट मन जब ध्वंस होता है तभी मेरी मृत्यु या मुक्ति होती है।

रहूँगा, अर्थात् तभी मेरी मृत्यु अथवा मुक्ति होगी।

मन से ही मैं काम करता हूँ और मन द्वारा ही मैं कर्म फल ग्रहण करता हूँ, अर्थात् हमलोगों का मन ही अपनी दसों इन्द्रियाँ द्वारा काम करता है और कर्मफल स्वरूप सुख-दुख भी वही भोगता है। मृत्यु होने से केवल शरीर की मृत्यु होती है, मन तो केवल शरीर छोड़ देता है। इस तरह देखता हूँ कि काम करने वाला और फल भोगने वाला रह ही जाता है, उसकी मृत्यु नहीं होती है। अतएव काम करते-करते यदि किसी की मृत्यु हुई, तो उसका फल कौन भोगेगा यह प्रश्न उठता ही नहीं है, क्योंकि काम मन करता है और मन की जब मृत्यु होती ही नहीं है, तो उसी को अपने कर्म का फल भोगना पड़ेगा।

जब मन की मृत्यु नहीं होती है, तो उसीको अपने कर्म का फल भोगना पड़ेगा।

मन एक सूक्ष्म वस्तु है और उसने मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय लिया है। इस मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय ग्रहण करने के ही के कारण हमलोगों का मन काम कर पाता है। मन और मस्तिष्क का इतना निकट सम्बन्ध है कि एक को छोड़कर दूसरा काम कर ही नहीं सकता है, यानी मस्तिष्क में यदि मन न रहे तो मस्तिष्क काम नहीं कर सकता है और फिर यदि मन का आधार मस्तिष्क काम करने लायक न रहे तो मन भी कोई काम नहीं कर सकता है।

मन मस्तिक रूपी स्थूल आधार का

आश्रय लिये बिना कोई काम नहीं कर सकता है।

मरे हुए मनुष्य का मस्तिष्क है, किन्तु उसमें मन नहीं है, इसीलिए वह मृत है और उसका मस्तिष्क कोई काम नहीं करता है। फिर मनुष्य जब ज्ञान शून्य हो जाता है, या दवा द्वारा उसको ज्ञानशून्य कर दिया जाता है, तो कुछ देर के लिए उसका मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है, इसीलिए मन भी कोई काम नहीं कर पाता है, क्योंकि उसका आधार काम करने लायक अवस्था में नही रहता है। अज्ञानावस्था में मनुष्य मृतक नहीं रहता है, अतएव आत्मा और मन कोई भी शरीर नहीं छोड़ता है। किन्तु, मन शरीर में रहकर भी कोई काम नहीं कर सकता है, क्योंकि उसका आधार काम करने लायक अवस्था में नहीं रहता है। इसीलिए अज्ञानावस्था में हम लोग कुछ नहीं समझ पाते हैं, क्योंकि जिस मन द्वारा काम करते हैं और समझते हैं, उसका मस्तिष्क रूपी आधार काम न करने योग्य होने के कारण मन काम करने की अपनी क्षमता खो बैठता है। अतएव, हमलोगों के शरीर में रहने पर भी वह कोई काम नहीं कर पाता है। इस तरह देखते हैं कि हमलोगों का सूक्ष्म मन यदि मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय न ले तो वह कोई काम नहीं कर सकता है, यानी मन को काम करने के लिए या काम का फल भोगने के लिए मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार को ग्रहण करना होगा। मृत्यु होने के साथ ही आत्मा शरीर

छोड़ देती है। और मन भी अपना मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार छोड़ देता है। मन ने जब मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार को छोड़ दिया तब वह कोई काम नहीं कर सकता है और न कुछ समझ सकता है, क्योंकि मन में काम करने की क्षमता तभी होगी जब वह मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय लेगा। अतएव, मृत्यु होने पर मन शरीर छोड़ने के बाद कोई काम नहीं कर सकता है या कुछ नहीं समझ सकता है। ऐसी दशा में उसने जो काम किया है उसका फल वह कैसे भोग सकेगा ? मन जो काम कर चुका है उसका फल उसी को भोगना पड़ेगा, किन्तु यदि मन मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार को आश्रय बनाकर न ठहरे तो वह न कोई काम कर सकता है और न कुछ समझ सकता है। केवल इन्हीं दो कारणों से मन को अपना कर्म फल भोगने के लिये एक नए मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् उसका फिर से नया जन्म होता है अपना कर्मफल भोगने के लिए। कह चुके हैं कि जहाँ पुरुष है वहाँ प्रकृति अवश्य रहेगी और जहाँ प्रकृति है पुरुष अवश्य ही रहेगा। मन आत्मा के ऊपर प्रकृति के प्रभाव से उत्पन्न हुआ वस्तु है, अतएव मन रहने से आत्मा को भी रहनी ही पड़ेगी।

इसलिए मृत्यु के बाद कर्मफल भोग बाकी रहने से आत्मा और मन को फिर से एक नया शरीर का आश्रय लेना पड़ता है, फलत: उनका पुनर्जन्म होता है।

इसलिए मन के शरीर ग्रहण करने से आत्मा को भी शरीर धारण करना ही पड़ेगा, यानी कर्मफल भोगने के लिए फिर से नया जन्म लेना होगा। मन दो प्रकार से काम करता है, शारीरिक और मानसिक। चंचल मन बिना काम किए कभी भी नहीं रह सकता है। मृत्यु के पूर्व मुहुर्त्त तक वह काम करता रहता है, अतएव अपने कर्मका फल भोगने के लिये उसको फिर जन्म लेना पड़ता है। इस तरह देखते हैं कि जन्म होने से मृत्यु और मृत्यु होने से फिर जन्म, यही चलता रहेगा जबतक न आत्मा के स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति का अन्त होता है, अर्थात् जब तक न आत्मा भूमाचैतन्य में मिल जाती है। आत्मा को इस यात्रा का अन्त करने में यदि अनन्त काल लगेगा तो वह अनन्त काल तक शरीर धारण और शरीर त्याग करती रहेगी।

मृत्यु होने के कर्मफल भोगने के लिए फिर जन्म लेना होगा। कहा जा चुका है कि कोई भी काम करने से मन अपना स्वभाविक अवस्था छोड़कर विकृत हो जाता है और विकृत अवस्था से जब प्रकृति के नियमानुसार स्वभाविक अवस्था में आने लगता है, तभी कर्मफल का भोग होता है। मनुष्य का मन मृत्यु के पूर्व मुहूर्त्त तक काम करता है, अतएव मन विकृत अवस्था में शरीर का त्याग करता है। अब प्रश्न उठता है कि मन बिना जन्म लिए उस जगत् में, यानी मृत्यु के बाद, स्वभाविक अवस्था में क्यों नहीं आता है? कहा जा

चुका है कि मन यदि मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार न लें तो वह कोई काम नहीं कर सकता है। मृत्यु के साथ ही तो उसने स्थूल आधार छोड़ दिया, अतएव वह मृत्यु के बाद काम कैसे करेगा? स्थूल आधार नहीं रहने के कारण वह मृत्यु के बाद न कोई काम कर सकता है और न कुछ समझ सकता है, इसीलिए स्वभाविक अवस्था में आने के लिए उसको एक स्थूल आधार लेना पड़ता है, यानी उसका पुनर्जन्म होता है।

देखते हैं कि मन मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय न ले तो वह कोई काम कर ही नहीं सकता है, अर्थात् काम करने की या समझने की शक्ति उसमें नहीं रहती है। काम करने के लिए या कर्मफल भोगने के लिए फिर से उसको नया जन्म लेना पड़ता है, अतएव मृत्यु के बाद मनुष्य स्वर्ग या नरक जाता है, यह धारणा एकदम भूल है। हमलोगों की धारणा है कि स्वर्ग में सुख भोग और नरक में दुःखभोग होता है, अर्थात् सुकर्म करने से मनुष्य स्वर्ग में जाकर सुख भोग करता है और कुकर्म करने से नरक में जाकर दुख भोग करता है। सुकर्म का फल सुख भोग और कुकर्म का फल दुख भोग मनुष्य को मन ही से न करना होगा? किन्तु, देखता हूँ कि मन यदि मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय न ले तो वह कुछ समझ नहीं सकता है। मृत्यु के

स्वर्ग और नरक नाम का कुछ भी नहीं है।

स्वर्ग सुख और

नरक यन्त्रणा भो-गने के लिये ही जन्म लेना पड़ता है ।

साथ ही साथ मन मस्तिष्करूपी स्थूल आधार को छोड़ देता है, अतएव मृत्यु के बाद उसकी समझने की शक्ति भी जाती रहती है। मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार न रहने से मन किस तरह से सुख-दुख का अनुभव करेगा ? सुख-दुख को समझने के लिये प्रकृति के नियमानुसार उसको फिर जन्म लेना पड़ता है, क्योंकि मृत्यु के बाद मस्तिष्क का आधार न रहने से मन अपना कर्म-फल भोग नहीं कर सकता है। इस तरह देखते हैं कि मृत्यु के बाद स्वर्ग या नरक कह कर जिस जगत् की कल्पना करते हैं वह एकदम भूल है, इस नाम का कोई जगत् नहीं है। स्वर्ग सुख और नरक की यन्त्रणा भोगने के लिए मन को फिर एक देह का आश्रय लेना होगा, अर्थात् उसको पुनर्जन्म लेना होगा। अतएव, स्वर्ग और नरक इसी मरणशील जगत् में हैं, यानी मनुष्य सुकर्म के लिए इसी जगत् में स्वर्ग सुख भोगता है या भोगेगा और कुकर्म के लिए भी इसी जगत् में नरक यन्त्रणा भोगता है या भोगेगा।

मृत्यु के साथ ही जब मन मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार छोड़ देता है, तब काम करने की उसकी शक्ति या सुख-दुख समझने की अनुभूति का अन्त हो जाता है। केवल एक इसी धर्म के कारण हम कह सकते हैं कि मन का प्रेतयोनि या प्रेतात्मा या भूत नाम की कोई वस्तु नहीं है।

प्रेतात्मा या प्रेत-योनि या प्रेत नाम की कोई वस्तु नहीं है।

कहा जा चुका है कि आत्मा स्वयं भगवान है और वह स्वयं कोई काम नहीं करती है, केवल दर्शक रूप में वह प्रकृति सृष्ट मन का काम देखती रहती है। मृत्यु के साथ ही मन ज्योंही मस्तिष्करूपी स्थूल आधार छोड़ देता है त्योंही उसकी क्रियाशक्ति का भी अन्त हो जाता है, अतएव मन न काम कर सकता है और न काम का फल ही पा सकता है। आत्मा जब किसी भी समय काम नहीं कर सकती है, तब मृत्यु के बाद वह कैसे काम करेगी या मृत्यु के बाद प्रेतात्मा होकर सुख-दुख कैसे समझ सकेगी या समझा सकेगी ? जो मन सुख दुख समझ सकता है या समझा सकता है, मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार को छोड़ते ही उसकी शक्ति का अन्त हो जाता है, तो वह सुख दुख कैसे समझ सकता है या समझा सकता है ? इस तरह देखते हैं कि मृत्यु के बाद जो जगत है वहाँ मन की क्रियाशीलता यानी काम करने की शक्ति नहीं रहती है, अतएव प्रेतात्मा या प्रेतयोनि या भूतयोनि न काम कर सकती है और न सुख दुख समझ सकती है या समझा सकती है। मृत्यु के बाद मन की क्रियाशीलता न रहने के कारण ही हम कहते हैं कि प्रेतात्मा या भूतयोनि या भूत नाम का कुछ भी नहीं है।

पुनर्जन्म इसका प्रमाण है कि प्रेतात्मा या भूत नाम का कुछ भी नहीं है। यदि पुनर्जन्म मानते हैं, अर्थात् मृत्यु के बाद फिर जन्म होता है या यह बात यदि हम मानते हैं, तो

प्रेतात्मा या भूत का प्रश्न ही नहीं उठता है। कहा जा चुका है कि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होगा ही, क्योंकि जो कर्म मैंने किये हैं उनका फल भोगने के लिए फिर जन्म लेना होगा। कर्मफल भोगने के लिए ही जब हमलोगों को जन्म लेना पड़ता है, तो इससे यह साफ साफ मालूम होता है कि मृत्यु के बाद जन्म न लेने तक हमलोग अपने कर्मफल का भोग नहीं कर पाते हैं। हमलोग मन से कर्म करते हैं और मन से ही उसका फल अर्थात् सुख दुख भोग करना पड़ता है। मृत्यु के बाद मन में कर्मफल भोगने की शक्ति नहीं है, अर्थात् वह सुख दुख कुछ समझ नहीं सकता है और सुख दुख समझने के लिए अर्थात् कर्मफल भोगने के लिए उसको फिर एक शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। इससे समझा जाता है कि मृत्यु के बाद फिर जन्म लेने तक मन की क्रियाशीलता यानी काम करने की शक्ति नहीं रहती है। मन की क्रियाशीलता तभी तक रहती है जब तक वह मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार का आश्रय लेकर रहता है, किन्तु मृत्यु के साथ ही साथ वह स्थूल आधार छोड़कर चला जाता है, इसलिए उसकी क्रियाशीलता का भी अन्त हो जाता है। क्रियाशीलता लाने के लिए उसको फिर जन्म लेना पड़ता है। इसलिये यदि पुनर्जन्म मानते हैं, तो प्रेतात्मा या भूत कैसे मानेंगे ? प्रेतात्मा या भूत मानने से पुनर्जन्म नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जन्म तभी होगा जब

प्रेतयोनि या भूत नहीं है इसका सबसे बड़ा प्रमाण पुनर्जन्म है।

तक न हमारे कर्मफल भोग का अन्त होगा और आत्मा भूमा चैतन्य में जाकर मिल जायगी। मृत्यु के बाद यदि प्रेतयोनि में हमलोग कर्म का फल भोग कर सकते हैं, तो जन्म क्यों लेते हैं। कर्मफल भोग कर लेना यदि प्रेतयोनि में सम्भव है, तो आत्मा की उन्नति या मुक्ति हेतु साधना भी प्रेतयोनि में संभव हो सकता है। इसलिए मृतयोनि मानने से पुनर्जन्म नहीं माना जा सकता है और पुनर्जन्म मानने से मृतयोनि नहीं मानी जा सकती है। मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार के बिना मन काम नहीं कर सकता है। मन के इसी धर्म के कारण हमलोग पुनर्जन्म मानते हैं, इसलिए बाध्य होकर कहना पड़ता है कि प्रेतयोनि या भूत नाम का कुछ भी नहीं है।

मृत्यु के साथ ही आत्मा और मन अपने स्थूल आधार को छोड़कर चले जाते हैं। मन जब स्थूल आधार छोड़ कर चला जाता है तो उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। जीवित काल में अज्ञानावस्था में मनुष्य की जैसी हालत रहती है, मृत्यु के बाद भी ठीक उसी तरह की अवस्था होती है। जब हमलोग अज्ञानावस्था में रहते हैं उस समय हमारे मन का मस्तिष्क रूपी स्थूल आधार कुछ देर के लिए काम करना बन्द कर देता है, किन्तु मन उसमें रहता है। उसका आधार काम न करने लायक होने के कारण वह

जीवित काल में अज्ञानावस्था में मनुष्य की जैसी हालत होती है मृत्यु के बाद वैसी ही हालत होती है दीर्घ काल के लिए।

कोई काम नहीं कर सकता है और न कुछ समझ सकता है। मन की क्रियाशीलता कुछ देर के लिए नष्ट हो जाने के कारण हम-लोग उतनी देर के लिए कुछ नहीं समझ पाते हैं और न कुछ कर सकते हैं। मृत्यु के साथ ही साथ मन अपने स्थूल आधार एकदम छोड़ कर चला जाता है, जिस कारण उसकी क्रियाशील-ता बिलकुल नष्ट हो जाती है। इसलिए वह न कुछ कर सकता है और न समझ सकता है। जीवित काल में अज्ञानावस्था में मन की जो दशा कुछ समय के लिए होती है, मृत्यु के बाद ठीक वही दशा दीर्घकाल के लिए होती है।

पुरुष रहने से ही उसके साथ अंगांगि भाव से जुटी हुई प्रकृति भी रहेगी ही, इसीलिए आत्मा जब मनुष्य का शरीर त्याग देती है तब प्रकृति-सृष्ट मन भी शरीर त्याग कर आत्मा का आश्रय लेता है। मनुष्य के कर्म के फलस्वरूप मन अभी विकृत है, इसलिए प्रकृति के नियमानुसार उसको फिर स्वभाविक रूप में आना पड़ेगा। जब मन स्वाभाविक रूप में आयगा, तभी मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का फल पायगा। कहा जा चुका है कि मन जब मस्तिष्करूपी स्थूल आधार का आश्रय करेगा तभी वह काम कर सकेगा, अर्थात् तभी वह स्वभाविक रूप में वापस आ सकेगा। इस प्रकार देखते हैं कि मृत्यु के साथ ही विकृत मन अपने कर्मफल भोग

संस्कार। की छिपी हुई शक्ति (reaction in its potentiality) के रूप में देह त्याग कर

आत्मा का आश्रय लेता है। इसी का नाम संस्कार है। मनुष्य मृत्यु के पूर्व मुहूर्त तक काम करता है, जिसके फलस्वरूप मन विकृत होता रहता है। यह विकृत मन मनुष्य की मृत्यु के कारण फिर स्वभाविक अवस्था में वापस आने का मौका नहीं पाता है और उसकी क्रियाशीलता भी नष्ट हो जाती है। अतएव, मृत्यु के बाद मन का काम केवल स्वभाविक रूप में वापस आना है, यानी उसको अपने किए हुए कर्मों का फल भोग करना है, अर्थात् मन को अपने किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए फिर शरीर का आश्रय लेना पड़ेगा, जिससे वह स्वभाविक रूप में वापस आ सकेगा। इसी युक्ति द्वारा हमलोग कह सकते हैं कि पुनर्जन्म केवल कर्मफल भोगने के लिए ही होता है और जन्म होते ही कर्म फल का भोग शुरू हो जाता है। एक मात्र इसी कारणवश मन मृत्यु के साथ ही जब शरीर छोड़ देता है तब वह कर्मफल भोग की शक्ति में रूपान्तरित होकर यानी संस्कार बन कर आत्मा का आश्रय लेता है, अर्थात् मृत्यु के बाद संस्कार (reaction in its potentiality) आत्मा का आश्रय ग्रहण करता है। संस्कार कहने से हम समझते हैं कर्म-फल भोग की प्रच्छन्न शक्ति, अर्थात् मृत्यु के बाद विकृत मन एक गुप्त शक्ति के रूप में आत्मा का आश्रय लेता है, जिससे वह फिर जब नए शरीर का आश्रय लेता है तो वह स्वभाविक रूप में वापस आ सकता है, यानी मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का

फल भोग करता है। उदाहरणस्वरूप, एक रबर का गेन्द मान लीजिए। मृत्यु के पूर्व मुहूर्त्त तक काम करने के कारण रबर का गेन्दरूपी मन में एक इञ्च गढ़ा हुआ है, यानी रबर का गेन्द विकृत हुआ है। प्रकृति के नियमानुसार रबर का गेन्द रूपी मन अपने स्वभाविक रूप में वापस आना चाहेगा, किन्तु कहा जा चुका है कि मृत्यु के बाद और पुनर्जन्म होने के पहले तक वह ऐसा नहीं हो पाता है। फलस्वरूप, मृत्यु के बाद वह रबर का गेन्दरूपी मन संस्कार के रूप में मेरी आत्मा का आश्रय लेता है, जिस कारण मेरी आत्मा एक नए शरीर का फिर आश्रय लेगी और तब वही संस्कार (गुप्त शक्ति) आगे बताये हुए के अनुसार एक इंच धँसा हुआ रबर का गेन्द रूपी मन का रूप फिर से लेगा और प्रकृति के विधान से इस नए शरीर में वह साथ ही साथ अपने स्वभाविक रूप में वापस आयगा, अर्थात् मैं अपने किए हुए कर्मों का फल पाऊँगा। इस तरह देखते हैं कि कि संस्कार कर्म फल भोग की गुप्त शक्ति है, जो मन का ही रूपान्तर मात्र है।

संस्कार कर्मफल भोग की एक प्रच्छन्न शक्ति है, तथा मन का ही एक रूपान्तर मात्र है।

कहा जा चुका है कि सुकाज हो अथवा कुकाज, दोनों ही काम से हम लोगों का मन विकृत होता है और जब मन स्वभाविक अवस्था में आने लगता है तभी हमलोग सुकाज के कारण सुफल और कुकाज के कारण कुफल पाते हैं। मृत्यु के

साथ ही मन संस्कार रूप में आत्मा का आश्रय करता है। अब देखें आत्मा संस्कार के मुताबिक कहाँ जाकर फिर क्या शरीर धारण करती है। मान लीजिये, राम की मृत्यु हुई और उसके विकृत मन ने संस्कार रूप में आत्मा का आश्रय लिया। राम ने जीवित अवस्था में ऐसे-ऐसे काम किये हैं जिनके कारण पुनर्जन्म लेने पर आठ वर्ष की आयु में उसके हाथ टूटने का मनोकष्ट, दस वर्ष की आयु में धन प्राप्ति का आनन्द, और ग्यारह वर्ष की अवस्था में पितृहीन होने का मनोकष्ट इत्यादि फल भोगने हैं, अर्थात् जब उसका विकृत मन स्वाभाविक अवस्था में आवेगा तब उसको यह सब सुख दुख भोगना पड़ेगा।

पुनर्जन्म वहीं होगा जहाँ कर्मफल भोग के उपयुक्त क्षेत्र मिलेगा।

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि किस कर्म के फलस्वरूप क्या फल भोगना पड़ेगा, यह ठीक नहीं है, अर्थात् मैं यदि चोरी करूँ तो फलभोग के रूप में मेरी भी उतनी ही कीमत की चीज चोरी होगी, ऐसा कुछ ठीक नहीं है। मैंने चोरी करके जितना मानसिक कष्ट किसी को दिया है उतना ही मानसिक कष्ट मुझको भोगना पड़ेगा, अर्थात् मानसिक कष्ट का नाप ठीक रहेगा। इस तरह देखता हूँ कि कर्मफल भोग का मुख्य आँकन कष्ट या आनन्द ही है और घटना गौण है। राम को जब पुनर्जन्म में यही सब फल भोगना पड़ेगा, तो राम की आत्मा और संस्कार को एक ऐसा शरीर का आश्रय लेकर

जन्म लेना पड़ेगा जिससे घटनाओं द्वारा वह इन सब फलों को भोग सकेगा। देखता हूँ कि राम के पूर्वजन्म के कर्मों के कारण उसके पिता की मृत्यु उसकी ग्यारह वर्ष की अवस्था में होती है। यदि राम के पिता का अपने कर्म द्वारा ठीक इसी समय (राम जब ग्यारह वर्ष का है) मृत्यु नहीं हो तो राम को पितृहीन होने का मानसिक कष्ट नहीं होता है और यदि ठीक इसी समय उसकी मृत्यु हो तो राम अपने किए हुए कर्मों का फल भोग पाता है। राम को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा और उसके पिता की मृत्यु ठीक उसी समय होगी, यानी राम के पिता का मृत्यु योग भी ठीक उसी समय होगा। राम के पिता की मृत्यु यदि ठीक उसी समय होती है तो देखते हैं कि राम के पिता भी राम के कर्मफल के साथ जड़ित है, अर्थात् राम के पिता की मृत्यु राम के ठीक ग्यारह वर्ष की अवस्था में होगी, इसी कारण राम की आत्मा और संस्कार पितृहीन रूप कर्मफल भोगने के लिए यहाँ जन्म लेंगे। यदि राम के पिता का मृत्युयोग ठीक उस समय न हो तो राम पितृहीन रूपी कर्मफल भोग नहीं कर पाता है। राम को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। अतएव, यदि राम के पिता का मृत्युयोग उस समय नहीं है तो राम वहाँ जन्म नहीं लेगा, क्योंकि राम का पुनर्जन्म केवल कर्मफल भोगने के लिए ही होता है। यहाँ जन्म लेने से वह कर्मफल नहीं भोग सकता है, इसलिए उसको वहाँ जन्म लेना पड़ेगा जहाँ ठीक ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसके पिता की

मृत्यु होगी। इस युक्ति द्वारा हम देखते हैं कि आत्मा और संस्कार मृत्यु के बाद जिस किसी शरीर का आश्रय लेकर जन्म नहीं ले सकते हैं। उनको जन्म लेने के लिए एक ऐसे शरीर का आश्रय लेना पड़ेगा जहाँ वे अपने कर्मों का फल भोग कर सकेंगे, अर्थात् जहाँ कर्मफल भोगने के उपयुक्त क्षेत्र पाया जायगा वहीं मृत्यु के बाद आत्मा और संस्कार एक शरीर का आश्रय ग्रहण कर जन्म लेंगे।

आत्मा और संस्कार को कर्मफल भोग के उपयुक्त क्षेत्र खोज कर देह का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे वह अपने किए हुए कर्मों का फल भोग कर सकता है। देखें इस कर्मफल भोग के उपयुक्त क्षेत्र की खोज कौन करता है। आत्मा कभी कोई काम नहीं करती है। वह केवल एक दर्शक है और मन संस्काररूपी शक्ति के रूप में आत्मा का आश्रय लेकर रहता है, जिसके फलस्वरूप वह भी काम नहीं कर पाता है, तो कर्मफल भोगने के लिए उपयुक्त क्षेत्र कौन खोजता है? कहा जा चुका है कि प्रकृति के विधान से हमलोग अपना कर्मफल भोगते हैं, अतएव कर्म फल भोग का अन्त नहीं होने से प्रकृति हम लोगों को बचे हुए कर्मफल का भोग करायगी, अर्थात् उसी के इस विधान से मृत्यु के बाद बचे हुए कर्मों का फल भोगने के लिए फिर जन्म लेना पड़ेगा। कर्मानुसार फल भोग हेतु

प्रकृति ही कर्मफल भोग के लिए क्षेत्र खोज देती है और जब तक न वह उपयुक्त क्षेत्र मिलता है तब तक पुनर्जन्म नहीं होता है

पुनर्जन्म ग्रहण करने के लिए ऐसे क्षेत्र में हम-लोगों को जन्म लेना पड़ेगा जहाँ हमलोग अपने किए हुए कर्मों का फल भोग सकेंगे। आत्मा कोई काम नहीं करती है और संस्कार काम कर नहीं सकता है, तो कहना पड़ता है, कि जिसके नियमानुसार हमलोग कर्मफल भोग करेंगे वही हमलोगों को इसके लिए उपयुक्त क्षेत्र खोज देगी। यह न होने से हमलोग अपने किए हुए कर्मों का फल कैसे भोग सकेंगे ? इसी कारण हम लोग कहते हैं कि मृत्यु के वाद संस्कार के अनुसार फल भोगने के लिए क्षेत्र प्रकृति खोजती है और जब उपयुक्त क्षेत्र मिलता है तभी आत्मा और संस्कार वहाँ पर शरीर का आश्रय लेते हैं, अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए।

मृत्यु के बाद आत्मा और संस्कार जिस किसी शरीर का आश्रय ग्रहण कर जन्म नहीं ले सकते हैं। उन लोगों को जन्म लेने के लिए कर्मफल भोग करने योग्य भूमि या क्षेत्र खोज कर जन्म लेना पड़ता है। ऐसा क्षेत्र एक दिन में भी मिल सकता है या एक करोड़ वर्ष भी लग सकता है, क्योंकि जब तक संस्कार के मुताबिक कर्मफल भोग करने योग्य क्षेत्र नहीं मिलता है तब तक वे देह का आश्रय कैसे ले सकते हैं ? अतएव, मृत्यु के बाद पुनर्जन्म कब और कहाँ होगा, नहीं कहा जा सकता है।

केवल हम लोगों की इस पृथ्वी पर ही जीव हैं, ऐसी बात नहीं है। इस अनन्त जगत् में हमलोगों की पृथ्वी जैसी अन-गिनत जगत् हैं, जहाँ जीव का अस्तित्व पाया जाता है। कहा

जा चुका है कि सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल हुई है और फिर स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रही है ? स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में जीव की सृष्टि होती है। हमलोगों के इस सूर्यमंडल का जगत् ही तो सृष्टि का सम्पूर्ण जगत् नहीं है, इसीलिए कहा जा सकता है कि इस अनन्त जगत् में अनन्त सूर्यमंडल हैं और ब्रह्म की सृष्टि के नियमानुसार वहाँ भी हमलोग जीव का संधान पायेंगे, क्योंकि जीव की उत्पत्ति सृष्टि की स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में होती है। इस युक्ति द्वारा हम देखते हैं कि हमलोगों की पृथ्वी जैसी अनगिनत स्थान हैं, जहाँ जीव का अस्तित्व पाया जाता है।

पुनर्जन्म इस पृथ्वी पर भी हो सकता है और इस पृथ्वी को छोड़कर किसी दूसरी जगह भी हो सकता है।

इस पृथ्वी को छोड़ कर जब अनन्त जगत में बहुत जगहों में जीव का अस्तित्व है, तो आत्मा और संस्कार अपने कर्मानुसार फल भोग करने लायक भूमि यदि कहीं दूसरी जगह पाए तो उनको वहीं जाकर देह का आश्रय लेना पड़ता है। इस तरह हमलोग देखते हैं कि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म इस पृथ्वी पर हो सकता है या इस पृथ्वी से बाहर भी हो सकता है। सारांश यह है कि कर्मफल भोग करने लायक भूमि जहाँ मिलेगी वहीं आत्मा और संस्कार एक नए शरीर का आश्रय ग्रहण करेंगे।

इस तरह देखता हूँ कि मृत्यु के बाद संस्कार आत्मा का

आश्रय लेकर रहता है और जब तक न वह कर्मफल भोग करने योग्य क्षेत्र पाता है तब तक वह नए शरीर का आश्रय नहीं ले पाता है। इससे हम कह सकते हैं कि जिस किसी ने भी इस पृथ्वी पर जन्म लिया है उसने अपने कर्म फल भोगने के उपयुक्त क्षेत्र पाया है। अतएव, यह कह सकते हैं कि कर्मफल भोगने के लिए ही देह धारण किया है। मनुष्य कर्मफल भोगता जाता है और साथ ही साथ नया कर्म भी करता जाता है।

कर्मफल भोग ही भाग्य या अदृष्ट है।

यह जो कर्मफल भोग है इसी को भाग्य या अदृष्ट कहते हैं। बीते हुए जन्म का कर्म फल इस जन्म में भोग रहे हैं, अतएव किन कर्मों के कारण सुफल और कुफल पाते हैं यह हम लोग नहीं जान पाते हैं, क्योंकि बीते हुए जन्म की बात कोई नहीं बता सकता है। अनदेख या अनजान कर्म का फल हम भोग रहे हैं, इसी कारण इसका नाम है अदृष्ट यानी जो देखा नहीं जा सकता है। यह जो भाग्य या अदृष्ट है इस को हम ने ही अपने कर्मों द्वारा बनाया है, अर्थात् हमलोग जैसा कर्म करके आए हैं वैसा ही फल पाते हैं या पाएंगे। अतएव, अपना भाग्य या अदृष्ट हमलोगों ने आप ही बनाया है। इसमें भगवान का कुछ भी दोष नहीं है। बहुत लोग विपत्ति या दुख में भगवान को ही दोष देते हैं और कहते हैं कि, हे भगवान

हमलोगों के भाग्य या अदृष्ट के लिए भगवान लेशमात्र भी उत्तरदायी नहीं है, उत्तर-दायी हम ही

योग है।   तुमने मेरा क्या किया ? क्या यह कहना ठीक है ? नहीं, क्योंकि विपत्ति, दुख या कष्ट, ये सभी तो हमारे भाग्य हैं, यानी हमने ही अपने कर्मों द्वारा इन सबों को बनाया है। इनके लिए भगवान कैसे उत्तरदायी हो सकते हैं ? अतएव, अपने भाग्य के लिए हम ही उत्तरदायी हैं, भगवान लेशमात्र भी नहीं हैं।

अपने भाग्य के लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ, अर्थात् मैंने जैसा कर्म किया है वैसा ही फल पाता हूँ या पाउंगा। अपने कर्मों का फल मुझीको भोगना पड़ेगा, दूसरा कोई भी इसको नहीं भोगेगा और जैसा कर्म मैंने किया है वैसा ही फल मैं पाउंगा अर्थात् कुकर्म करने से कुफल और सुकर्म करने से सुफल। यही प्रकृति का विधान है और इस विधान को कोई भी तोड़ नहीं सकता है।

६

जगत् में मनुष्य को किस तरह से रहना चाहिए ।

मनुष्य का अणुचैतन्य व्यापक भाव से विकशित है, इसलिए वह स्वाधीन भाव से काम कर सकता है, अर्थात् भला बुरा का विचार करके काम करता है। भला और बुरा काम कहने से क्या समझते हैं?

सगुणब्रह्म की सृष्टि रचना का उद्देश्य है अपने प्रत्येक अणु को अपने ही समान मुक्त पुरुष करा देना और इसी कारण उसने सृष्टि की रचना करके इसकी स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति के शेष पर्याय में मनुष्य के रूप में कुछ अणु को व्यापक भाव से विकशित किया है। मनुष्य को स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली धारा में पाते हैं।

सुकाज या विद्या-माया ।

सृष्टि की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर जितनी चलती है, उतनी ही प्रकृति का प्रभाव अणुचैतन्य पर कम होता है। जब सृष्टि के स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में प्रकृति का प्रभाव अणुचैतन्य पर कम होता है, तो विवश होकर कहना पड़ता है कि सगुणब्रह्म की इच्छा से ही प्रकृति अणुचैतन्य पर, जब वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है, अपना प्रभाव कम कर

देती है। जब यह अवस्था है, अर्थात् सगुणब्रह्म की इच्छा से उसकी सृष्टि की स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में प्रकृति को अणुचैतन्य से प्रभाव हटाना पड़ता है, तो सृष्टि होने के पहले ही सगुणब्रह्म ने प्रकृति के साथ ऐसा समझौता कर लिया था। यह न होने से जिस प्रकृति का मात्र काम है, पुरुष को गुणयुक्त करना, वह अपनी इच्छा से पुरुष को कैसे गुणमुक्त करती है? सृष्टि की स्थूल से सूक्ष्म की ओर वाली गति में यद्यपि प्रकृति अपनी इच्छा से पुरुष को अपने गुण से मुक्त करती है, तथापि सृष्टि की गति का अन्त नहीं होने तक प्रत्येक अणु प्रकृतिके अधीन ही रहता है। अधीनावस्था में यदि अणुचैतन्य स्वाधीन रूप से प्रकृति के विरुद्ध काम करता है, तो क्या प्रकृति का काम नहीं होता है कि वह अणुचैतन्य को दण्ड दे? पराधीन अणुचैतन्य का स्वाधीन रूप से काम करने के कारण दण्ड पाने का अर्थ है उसकी गति का बन्द हो जाना, क्योंकि जब तक वह प्रकृति सृष्ट दण्ड नहीं भोग लेता है तब तक प्रकृति उसको कैसे छोड़ेगी और प्रकृति के न छोड़ने से या उसका प्रभाव कम न होने से वह सूक्ष्म की ओर जा नहीं सकता है। सृष्टि तत्त्व में हम पाते हैं कि चैतन्य जहाँ अधिक है वहाँ प्रकृति का प्रभाव कम है, अतएव, अणुचैतन्य यदि अपने चैतन्य को और बढ़ा सके तो प्रकृति का प्रभाव उसपर और कम होगा, जिसके फलस्वरूप उसकी सूक्ष्म की ओर की गति तेज हो जायगी, यानी वह शीघ्र ही सूक्ष्म में

वापस जा सकेगा । अतएव, सुकर्म कहने से हमलोगों को वह काम समझना होगा जिसके द्वारा प्रकृति के विरुद्ध नहीं जाना हो और चैतन्य का विकाश अधिक हो सके । प्रकृति के विरुद्ध काम न करने से या उसको मान कर चलने से कर्मफल भोगना नहीं पड़ेगा और पुरुष की शक्ति बढ़ाने से प्रकृति क्रमशः दुर्बल होगी, फलस्वरूप मनुष्य शीघ्र ही अपने स्वरूप में वापस चला जायगा । अतएव, जिस काम द्वारा आत्मा की शक्ति बढ़ती है और प्रकृति के अनुसार चलते हैं, वही सुकर्म है । इसी सुकर्म को विद्यामाया कहते हैं और यही है वैराग्य और विवेक।

वैराग्य

साधारणतः वैराग का अर्थ हम यह समझते हैं कि कम्बल और लोटा लेकर संसार छोड़कर चला जाना । यह धारणा एक दम गलत है । वैराग्य है, वस्तु का असल व्यवहार समझ कर (मन को विषयों के अधीन में नहीं रखकर) उसी प्रकार व्यवहार करना, यानी प्रत्येक वस्तु का उचित व्यवहार करना। जैसे, मदिरा एक मादक द्रव्य है, जिसके पीने से ही नशा होगा। नशा शरीर और मन दोनों ही के लिये हानिकारक है, अतएव नशा के लिए मदिरा पान का परित्याग करना चाहिए । डाक्टर अनेक रोगों में औषधि के रूप में मदिरा का व्यवहार करने के लिए देता है । उस समय वह नशा पैदा करनेवाला मादक द्रव्य रोगी के लिए औषधि हो जाता है, जिससे रोगी का रोग दूर हो जाता है । इस तरह देखते हैं कि मदिरा, व्यवहार के दोष से,

एक जगह स्वस्थ शरीर को अस्वस्थ बनाता है और दूसरी जगह, व्यवहार के भेद से, रोगी शरीर को आरोग्य बनाता है। अतएव, मदिरापान नशा के लिये अवश्य त्याज्य है, किन्तु दवा के रूप में ग्रहण करने योग्य है। मदिरा का जो इस प्रकार से औषधि के रूप में व्यवहार करता है वही मदिरा का उचित व्यवहार समझकर काम में लाता है, फलतः उसका मन मदिरा के अधीन नहीं रहता है। इस उचित रूप से व्यवहार करने का नाम है वैराग्य। इसी वैराग्य भाव से वस्तु का व्यवहार करने से उस वस्तु पर हमलोगों का मन आसक्त नहीं होता है, यानी हमलोग वस्तु के मोह में नहीं पड़ते है। स्थूल वस्तु पर हमलोगों का मन आसक्त न होने से वह सूक्ष्म की ओर जायगा। मन का सूक्ष्म की ओर जाने से प्रकृति का प्रभाव उस पर कम होने लगता है और प्रकृति का प्रभाव कम होने से हमलोग मुक्त हो सकेंगे।

विवेक

सदासद् का विचार विवेक है, अर्थात् क्या भला है और क्या बुरा है, इस विचार को विवेक कहते हैं। मदिरा को नशा के रूप में खराब वस्तु पाते हैं और औषधि के रूप में अच्छी वस्तु पाते हैं, अर्थात् एक ही वस्तु, व्यवहार के विचार से, कभी अच्छी और कभी खराब है। यह जो भला और बुरा का बिचार मन में है, अर्थात् नशा रूप में खराब और औषधि रूप में अच्छा, इसी विचार का नाम विवेक है, यानी

विवेक द्वारा मुझको भला या बुरा का निर्णय करना होगा। वस्तु का ठीक व्यवहार समझ कर उसी प्रकार उसको काम में लाने के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ती है, क्यों कि विवेक में ही तो पता चलेगा कि वस्तु कैसी है और उसका व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए। अतएव, वैराग्य साधन के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ती है और वैराग्य साधन हमलोगों को मुक्त होने में सहायता पहुँचाता है। तब तो यही कहेंगे कि वैराग्य और विवेक ही सुकर्म या विद्यामाया है।

कुकाम या अविद्यामाया।

कुकर्म या अविद्यामाया ठीक इसके विपरीत है, यानी जिस काम द्वारा आत्मा की उन्नति नहीं होती है और प्रकृति को मान कर भी नहीं चलते हैं वही कुकर्म है। आत्मा की उन्नति का अर्थ है उसकी सूक्ष्म की ओर जानेवाली धारा की गति को बढ़ा देना और यह तभी सम्भव है जब हमलोग अपने मन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जांय। मन जितना अधिक स्थूल में फँसा रहेगा आत्मा की उतनी ही अवनति होगी, क्योंकि स्थूल में प्रकृति का विकाश जितना ही अधिक है पुरुष का विकाश उतना ही कम है। मन स्थूल में फँसा रहने से वह प्रकृति के अधीन रहता है, फलतः आत्मा की उन्नति नहीं हो पाती है। फिर प्रकृति का नियम न मानने से वह दण्ड देती है, जिसको भोगने के लिए आत्मा की उन्नति का मार्ग रुक जाता है, फलस्वरूप वह सूक्ष्म में वापस नहीं आ पाती है। अतएव, हम लोगों को समझना चाहिए कि जिस काम से मन स्थूल में फँस जाय और प्रकृति

का नियम नहीं माना जाय वही कुकर्म या अविद्यामाया है। अविद्यामाया से ही षट् रिपु और अष्ट पाश की उत्पत्ति हुई है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ये षट् रिपु हैं और भय, लज्जा, घृणा, शंका, कुल, शील, मान, युगुप्सा ये अष्ट पाश हैं। षट् का अर्थ है छः और रिपु का अर्थ है शत्रु, अतएव षट् रिपु का अर्थ हुआ छः शत्रु। काम, क्रोध इत्यादि छः शक्तियों को शत्रु क्यों कहते हैं? ये शक्तियां शत्रु के रूप में मनुष्य के मन को फँसाकर रखती है जिससे उसका स्वरूप में जाना, यानी सूक्ष्म की ओर की गति का अन्त हो जाता है। आत्मा का स्वरूप सूक्ष्म है। जो उसको स्वरूप में नहीं जाने देता है वही न उसके साथ शत्रुता करता है? इसीलिए काम, क्रोध, इत्यादि छवो शक्तियों को शत्रु कहते हैं। अष्ट का अर्थ है आठ और पाश का अर्थ है बन्धन, अतएव अष्ट पाश का अर्थ हुआ आठ बन्धन। जिस मनुष्य को बाँध कर रक्खा जायगा उसमें चलने फिरने की क्षमता नहीं रहेगी। सृष्टि के नियमानुसार मनुष्य की गति हमलोग स्थूल से सूक्ष्म की ओर पाते हैं, अर्थात् मनुष्य को सूक्ष्म की ओर जाना है। लज्जा, भय घृणा, इत्यादि ये आठ गुण ऐसे हैं जिनका अवलम्बन करने से मनुष्य स्थूल में फँस कर रह जाता है, जिससे उसकी सूक्ष्म की ओर की गति रुक जाती है। इन्हीं आठों गुणों में फँसकर मनुष्य रह जाता है, इसीलिए इनका नाम पाश या बन्धन है, अर्थात् ये अष्ट पाश मनुष्य को बाँध कर रखते हैं जिस कारण

मनुष्य सूक्ष्म की ओर नहीं जा पाता है।

इस तरह देखता हूँ कि विद्यामाया का आश्रय करना सुकर्म है और अविद्यामाया का आश्रय करना कुकर्म है। विद्यामाया का आश्रय करने से मनुष्य क्रमशः सूक्ष्म की ओर जाता है और अविद्यामाया का आश्रय करने से सूक्ष्म की ओर जाने वाली उसकी गति रुक जाती है। सृष्टि के नियमानुसार जब मनुष्य की गति सूक्ष्म की ओर है, तब तो प्रत्येक मनुष्य को विद्यामाया का आश्रय लेना ही पड़ेगा जिससे सूक्ष्म की ओर जाने वाली उसकी गति में वृद्धि होगी और वह शीघ्र ही अपने स्वरूप में वापस जा सकेगा।

प्रत्येक मनुष्य को विद्यामाया का ही आश्रय लेना उचित है।

विद्या और अविद्यामाया का आश्रय करने वाले मनुष्य को हम चार भाग में बाँटते हैं। प्रथम वे हैं जो प्रकृति के नियमानुसार चलते हैं और आत्मा की उन्नति के लिए काम करते हैं। इन्हें उत्तम पुरुष कहते हैं। मध्यम श्रेणी के पुरुष वे हैं जो केवल प्रकृति के नियमों पर चलते हैं, किन्तु आत्मा की उन्नति या अवनति के लिए कोई काम नहीं करते हैं। तृतीय श्रेणी के पुरुष वे हैं, जो प्रकृति का नियम मान कर नहीं चलते हैं और आत्मा की अवनति या उन्नति के लिए भी कोई काम नहीं करते हैं। इन्हें अधम पुरुष कहते हैं। चतुर्थ श्रेणी के पुरुष प्रकृति का नियम नहीं मानते

कर्मानुसार मनुष्य को हम चार भाग में बाँटते हैं।

हैं और आत्मा की अवनति का भी कारण बनते हैं। ऐसे पुरुष अधमाधम हैं।

सगुणब्रह्म ने जिस उद्देश्य से मनुष्य की सृष्टि की है उससे हम यही समझते हैं कि मनुष्य का धर्म ही है अपना असली रूप या स्वरुप में वापस जाना। स्वरुप में जाने के लिए आत्मा की उन्नति के लिए काम करना होगा और प्रकृति का नियम मान कर चलना होगा, जिससे प्रकृति रुकावट न डाले। इसलिए उत्तम पुरुष ही प्रकृति मनुष्य हैं, यानी वास्तव में मनुष्य हैं, क्योंकि वे ही सगुणब्रह्म की इच्छा की पूर्ति करते हैं, अर्थात् एकमात्र वे ही मनुष्य के धर्म का पालन करते हैं।

पशु भी प्रकृति का नियम मान कर चलते हैं, किन्तु उनका चैतन्य व्यापक रूप से विकशित न होने के कारण वे अपनी आत्मा की उन्नति के लिए कोई काम नहीं कर पाते हैं। मध्यम श्रेणी के पुरुष जो केवल प्रकृति का नियम मान कर चलते हैं, वे क्या इस विषय में पशु समान नहीं हैं? उनका चैतन्य व्यापक रूप से विकशित है, किन्तु वे उससे कोई काम नहीं लेते हैं। अतएव उनको मनुष्य के शरीर में पशु छोड़कर और क्या कहा जायगा?

द्वितीय हैं मध्यम पुरुष।

अधम और अधमाधम पुरुष पशु से भी नीच हैं। पशु प्रकृति का नियम मान कर चलता है, केवल चैतन्य का विकाश न होने के कारण आत्मा की उन्नति के लिए वह कोई काम

नहीं कर पाता है। किन्तु, प्रकृति पर पूर्ण रूप से निर्भर करने के कारण कालान्तर में उसकी आत्मा की उन्नति होती है। अधम और अधमाधम पुरुषों का चैतन्य व्यापकरूप से विकशित है, किन्तु अधम पुरुष केवल प्रकृति के नियमों को नहीं मानते हैं और अधमाधम पुरुष प्रकृति को भी नहीं मानते हैं तथा आत्मा की अवनति करने वाला काम भी करते हैं। अतएव, अधम और अधमाधम पुरुष पशु से भी नीच हैं।

अधम पुरुष तृतीय श्रेणी में हैं और चतुर्थ श्रेणी में अधमाधम पुरुष हैं।

इस युक्ति द्वारा देखते हैं कि एकमात्र विद्यामाया का आश्रय ही सर्वश्रेष्ठ है, जिसके द्वारा सगुणब्रह्म की इच्छा की भी पूर्ति होती है और मनुष्य अपने धर्म का भी पालन कर पाता है। अतएव, प्रत्येक मनुष्य के लिए विद्यामाया का आश्रय ग्रहण करना उचित है, जिससे वह उत्तम पुरुष कहा जायगा।

उत्तम पुरुष ही श्रेष्ठ है।

इसके पहले अध्याय में युक्ति द्वारा हमलोग देख चुके हैं कि कर्म फल को कोई भी काट नहीं सकता है, अर्थात् मेरे कर्मों का फल मुझी को भोगना पड़ेगा, उसको कोई भी मिटा नहीं सकेगा। बहुत लोग इसी कर्मफल भोग को मिटाने के लिए या उससे छुटकारा पाने के लिए नाना प्रकार का उपाय करते हैं। देखिए, उन लोगों के इस उपाय के पीछे कितनी दृढ़ युक्ति है

और उसके द्वारा कोई कर्मफल भोग से छुटकारा पाता है अथवा नहीं।

बहुत लोग सोचते हैं कि ग्रहशान्ति या प्रायश्चित द्वारा भाग्य बदला जा सकता है, किन्तु यह धारणा एकदम गलत है। प्रकृति के नियमानुसार हमलोग कर्मफल भोगते हैं। ग्रहशान्ति या प्रायश्चित्त द्वारा क्या प्रकृति का विधान तोड़ा जा सकता है? कहा जा चुका है कि कर्म के कारण हमलोगों का मन विकृत होता है और वह विकृत मन जब अपने स्वभाविक अवस्था में वापस आता है तभी हमलोग अपने कर्मों का फल भोगते हैं। मन का स्वभाविक अवस्था में वापस आना प्रकृति का नियम है। इसको क्या कोई रोक सकता है? इसको कोई भी रोक नहीं सकता है, किन्तु स्वभाविक अवस्था में वापस आनेवाली गति की धारा बदली जा सकती है। अर्थात्, उदाहरण के रूप में देखिए कि जहाँ मन को स्वभाविक अवस्था में वापस आने में एक महीना लगेगा वहाँ तांत्रिक पद्धति इत्यादि द्वारा उसको एक दिन में वापस लाया जा सकता है और एक वर्ष में भी लाया जा सकता है, किन्तु उसको रोका नहीं जा सकता है। देखिए, मैंने किसी का एक सौ रुपया उधार लिया है इस शर्त्त पर कि मैं एक महीने में वापस कर दूँगा। यह उधार लिया हुआ रुपया मुझको वापस करना ही होगा, लेकिन एक

ग्रहशान्ति या प्रायश्चित द्वारा भाग्य नहीं बदला जा सकता है और न कर्मफल ही मिटाया जा सकता है।

महीने की शर्त्त को कह सुन कर एक वर्ष या दो वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है। किन्तु, समय कितना क्यों न बढ़ाया जाय, रुपया तो हमको वापस देना ही पड़ेगा। फिर देखिए, मेरा रुपया इस शर्त्त पर जमा है कि प्रत्येक दिन पाँच रुपया के हिसाब से महीना में डेढ़ सौ रुपया खर्च करना होगा। रुपये की आवश्यकता पड़ने पर मैं उस डेढ़ सौ रुपये को एक दिन में खर्च कर सकता हूँ, अथवा इच्छानुसार पाँच रूपये के हिसाब में एक महीना में भी खर्च कर सकता हूँ। अपने रुपये का भोग मैं ही करूँगा, केवल रकम का फेर है, यानी एक दिन में भी कर सकता हूँ और एक महीना में भी कर सकता हूँ। तांत्रिक पद्धति इत्यादि द्वारा हमलोग अपने भाग्य को ठीक ऊपर दिए हुए दो उदाहरणों के समान बदल सकते हैं, किन्तु रोक नहीं सकते हैं। कर्मफल हमको भोगना ही पड़ेगा, केवल रकम का फेर है, अर्थात् एक महीने के भोग को एक दिन में भी भोग सकते हैं और एक वर्ष में भी भोग सकते हैं। वह जो एक सौ रुपया वापस करना है, वह यदि एक साथ वापस किया जायगा तो हो सकता है कि मेरी क्षमता से बाहर हो जाय और मुझे बहुत कष्ट हो। वही रुपया यदि फी महीने थोड़ा-थोड़ा देकर वापस कर दें तो हो सकता है कि मुझे पता भी न चले कि मैं एक सौ रुपया वापस कर रहा हूँ।

ग्रहशान्ति द्वारा कर्मफल भोग के समय को केवल बदला जाता है।

तांत्रिक पद्धति द्वारा भोग की इस अवधि को बढ़ा देते हैं, जिसके फलस्वरूप हमलोग भोग की गुरुता का अनुभव नहीं करते हैं। इसीलिए कहते हैं कि ग्रहशान्ति द्वारा हमलोग कर्मफल भोग को रोक सकते हैं। जैसे, भाग्य गणना करके देखा गया कि एक मनुष्य को ग्यारह वर्ष की अवस्था में हाथ टूटने का मनोकष्ट है। ग्रहशान्ति द्वारा यह हाथ का टूटना रोका जा सकता है, किन्तु हाथ टूटने से जितना मनोकष्ट होता है उसको नहीं रोका जा सकता है इसलिए वह इस कष्ट को दूसरे रूप में भोगेगा। हो सकता है, उसका हाथ थोड़ा-सा कट जाय, फिर हो सकता है कि वह बीमार हो जाय। इसी तरह वह कष्ट पाता रहेगा जब तक न उसके दुख भोग की समष्टि हाथ टूटने से जितना मनोकष्ट होता है उतना हो जायगा। अर्थात्, एक सौ रूपये का देनदार जबतक न दो एक रुपया करके एक रुपया चुका देता है तबतक उसको रुपया देते ही रहना पड़ेगा। यहाँ हाथ टूटने का मनोकष्ट एक सौ रुपया का देना है, जिसका शर्त्त था एक दफे में ही वापस कर देना, किन्तु महाजन की खुशामद करके, अर्थात् ग्रहशान्ति करके, उनको दो एक रुपया दे दे कर वापस करने का शर्त्त हुआ। अतएव, जब तक एक सौ रुपया पूरा वापस नहीं हो जाता है तब तक उसको रुपया देते ही रहना पड़ेगा।

ग्रहशान्ति द्वारा भोग के समय को जैसे बढ़ाया जा सकता

है उसी प्रकार उस समय को कम भी किया जा सकता है। जैसे, भाग्य की गणना करके कोई नीलम इत्यादि धारण करता है जिसके फलस्वरूप उसका भाग्य बदल जाता है, यानी हो सकता है उसका व्यवसाय खूब उन्नति करे या वह लौटरी में खूब अधिक रुपया पाय या नौकरी में उसकी उन्नति हो। इन सबों को देख कर लोग सोचते हैं कि ग्रहशान्ति द्वारा भाग्य बदल गया। किन्तु, वास्तव में क्या यह होता है? भाग्य कभी भी बदला नहीं जा सकता है, यानी कर्मफल भोग को कोई रोक नहीं सकता है। तब ग्रहशान्ति द्वारा कैसे मनुष्य भाग्य बदल सकता है? कहा जा चुका है कि मेरे कर्म के कारण दूसरे जितना आनन्द पाएंगे मैं भी ठीक उतना ही आनन्द पाउंगा। यह जो आनन्द भोग की नाप है इसको बढ़ायी या घटाई नहीं जा सकती है, केवल इसके भोग का समय बढाया या घटाया जा सकता है। किन्तु, आनन्द भोग की नाप ठीक उतनी ही रहेगी। ऊपर मैंने एक उदारहण दिया है कि मेरा डेढ़ सौ रुपया जमा है इस विचार से कि नित्य दिन मैं पाँच रुपया खर्च करूँगा, किन्तु जरूरत पड़ने पर उस रुपय को मैं एक दिन में ही खर्च कर सकता हूँ जिसके फलस्वरूप बाकी उनतीस दिन के खर्च के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं रह जायगा। ग्रहशान्ति द्वारा जो भाग्य बदला जाता है वह भी ठीक इसी प्रकार का होता है। जैसे, नीलम धारण करके मैं ने लौटरी में एक लाख रुपया पाया जिससे मेरा भाग्य बदल

गया। उस एक लाख रुपया को मैं ने कैसे पाया और कहाँ से पाया ! यह एक लाख रुपया मेरे ही भाग्य में था और वह मुझ को ही भोगने के लिए था ऊपर दिए हुए उदाहरण के अनुसार नित्य दिन पाँच रुपया के हिसाब से डेढ़ सौ रुपया भोग करने के मुताबिक। ग्रहशांति करके नित्य दिन भोग करने-वाले रुपया को मैंने एक ही दफे ले लिया जिसके फलस्वरूप नित्य दिन का मेरा रुपया का आमदनी बन्द हो गया। किन्तु, एक लाख रुपया एक साथ पाने से मन में हुआ कि ग्रहशान्ति द्वारा भाग्य को ही मैं ने बदल दिया। भाग्य या कर्मफल भोग कभी भी बदला नहीं जा सकता है, केवल भोग की अवधि घटायी या बढ़ायी जा सकती है। एकमात्र इसी कारण से मुक्ति की इच्छा करनेवाले साधकों के पास विपद्–आपद, सुख-समृद्धि इत्यादि शीघ्रातिशीघ्र आते हैं, यानी वे इन सबों को जल्दी जल्दी भोग लेते हैं। मुक्ति के इच्छुक साधक इसी जन्म में मुक्ति चाहते हैं, अर्थात् वे पुनर्जन्म नहीं चाहते हैं। अतएव, उन लोगों को सभी कृत कर्मों का फलभोग इसी जन्म में करना होगा, इसीलिए एक पर एक संस्कारानुसार विपद-आपद, सुख समृद्धि, वे लोग भोग करते हैं जिससे कर्मफल भोगने के लिए उनको फिर जन्म न लेना पड़े। जब तक कर्मफल भोग का अन्त नहीं होता है तब तक मुक्ति नहीं हो सकती है, इसीलिए साधना द्वारा कर्मफल को जल्दी जल्दी भोग लेते हैं जिससे वे प्रकृति के बंधन से मुक्ति पावें।

इस तरह देखता हूँ कि कर्मफल सभी को भोगना ही पड़ेगा। उससे बचने का उपाय नहीं है। ग्रहशान्ति द्वारा भोग की अवधि को घटाई या बढ़ाई जा सकती है, किन्तु भोग को मिटाया नहीं जा सकता है। भोग का समय घटाने या बढ़ाने से मैं भोग की गुरुता को नहीं समझ पाता हूँ, इसलिए सोचता हूँ कि मैं ने अपने भाग्य को ही बदल दिया, यानी कर्मफल को मिटा दिया। ऊपर दिए हुए युक्ति द्वारा देखते हैं कि हम लोग किसी भी प्रकार अपने कर्मफल भोग को मिटा नहीं सकते हैं, अतएव सुकर्म करने से सुफल और कुकर्म करने से कुफल हमलोगों को भोगना ही पड़ेगा। इससे बचने का उपाय नहीं है।

बहुत लोग सोचते हैं कि कुकर्म करके उसके बदले में सुकर्म करने से कुकर्म के कारण जो पाप हुआ है वह सुकर्म द्वारा प्राप्त पुण्य की सहायता से धोया जा सकेगा। अर्थात्, पाप और पुण्य की मात्रा बराबर रहने से बाकी कुछ भी नहीं रहेगा। किन्तु, क्या यह कभी होता है? यह न कभी होता है और न हो सकता है। कहा जा चुका है कि जो भी काम हम करते हैं, अच्छा हो या बुरा हो, दोनों प्रकार से ही हमारा मन अपना स्वाभाविक रूप छोड़ कर विकृत हो जाता है और जब वह विकृत मन अपने स्वाभाविक

कुकर्म करके फिर बदले में सुकर्म करने से कुकर्म का कुफल भोग नहीं मिटाया जा सकता है।

रूप में वापस आने लगता है तभी हम अपने कर्म का फल पाते हैं। इस तरह देखता हूँ कि अच्छा और बुरा दोनों ही काम के कारण मन विकृत होता है और जब दोनों ही से मन विकृत होता है तो एक को दूसरा स्वाभाविक अवस्था में कैसे लायगा ? एक को जब दूसरा स्वाभाविक अवस्था में ला नहीं सकता है, तो दोनों को ही अलग अलग स्वाभाविक अवस्था में आना होगा और तभी हम अपने कर्म फल का भोग पायेंगे, यानी सुकर्म के कारण सुफल और कुकर्म के कारण कुफल भोगेंगे। इस तरह देखता हूँ कि कुकर्म करने के बाद उसके बदले में सुकर्म करने से कुकर्म का कुफल मिटाया नहीं जा सकता है। कुकर्म का फल अलग भोग करना होगा और सुकर्म का फल भी अलग भोग करना होगा, अर्थात् सुकर्म द्वारा सुफल भोग और कुकर्म द्वारा कुफल भोग ही विधि का विधान है।

कुकर्म के कारण कुफल और सुकर्म के कारण सुफल अलग-अलग भोग करना होगा।

युक्ति द्वारा हमलोग देखते हैं कि कर्मफल भोग किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता है। जब कर्मफल भोग किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता है, तो इस कर्मफल भोग के लिए भगवान को दोष देना या भगवान के पास कर्मफल भोग से मुक्ति पाने के लिए प्रार्थना करना क्या बेवकूफी नहीं है ? कहा जा चुका है कि हम जैसा काम करते हैं ठीक वैसा ही फल पाते हैं

भगवान उसके लिए लेशमात्र भी उत्तरदायी या दोषी नहीं है। काम हम करते हैं तो फल भी हम ही भोगेंगे।

कर्मफल भोग के लिए भगवान दोषी नहीं है, दोषी हम ही लोग हैं।

इसके लिए भगवान कैसे उत्तरदायी होंगे? आग में हाथ डालने से हाथ अवश्य जलेगा, तो क्या आग में हाथ डालकर हाथ जलने पर भगवान को दोष दिया जा सकता है कि हे भग-वान तुमने मेरा हाथ क्यों जला दिया? भगवान को यह दोष देना क्या बेवकूफी या अज्ञानता नहीं है? आग का धर्म ही है जलाना, तो उसमें हाथ डालने से हाथ अवश्य ही जलेगा यह जान कर भी यदि मैं आग में हाथ जला कर भगवान को दोष दूँ कि हे भगवान तुमने मेरे हाथ को क्यों जलाया तो यह मूर्खता छोड़ कर और क्या कहा जायगा?

अतएव, कर्मफल भोग के लिए भगवान को दोष देना अज्ञानता है।

जैसे प्रकृति का यह स्वयंसिद्ध नियम है कि आग में हाथ डालने से हाथ जलेगा ही, उसी प्रकार यह भी प्रकृति का स्वयंसिद्ध नियम है कि कर्म करने से फल भोगना ही पड़ेगा, अच्छा हो या बुरा। प्रकृति के इस नियमा-नुसार हम लोग अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं। इसके लिए भगवान को दोष देना केवल मूर्खता है। हमलोगों के काम के लिए जैसे भगवान उत्तरदायी नहीं है, उसी प्रकार काम के फल के लिए भी वह लेशमात्र भी उत्तरदायी नहीं है। काम हम करते हैं और उसका फल भी हम ही भोगते हैं।

जैसे कर्मफल भोगने के लिए भगवान को उत्तरदायी बनाना या दोष देना बेवकूफी या अज्ञानता है, उसी तरह कर्मफल भोग से मुक्त होने के लिए उसकी प्रार्थना करना या उसकी स्तुति करना भी बेवकूफी या अज्ञानता है। कर्म करने से फल भोगना ही पड़ेगा, यही है प्रकृति का विधान और उसके विधान से ही सारा संसार चल रहा है। यदि प्रकृति के इस विधान में कुछ भूल हो जाय तो सम्पूर्ण विश्व में विशृङ्खलता आ जायगी जिसके फलस्वरूप सृष्टि अचल हो जायगी। अतएव, प्रकृति के विधान में विशृङ्खलता नहीं हो सकती है। यह तो मनुष्य का बनाया हुआ विधान नहीं है कि, जो उसको बनाता है वही तोड़ता है। प्रकृति के विधान में जब भूल हो नहीं सकती है, तो कर्म करने से फल भोगना ही पड़ेगा इस विधान में भी भूल नहीं हो सकती है। जब देखते हैं कि कर्म करने से फल भोगना ही पड़ेगा, तो फलभोग मिटाने के लिए प्रार्थना करना क्या मूर्खता नहीं है? क्योंकि प्रार्थना द्वारा प्रकृति अपने नियम को न बदलेगी और न बदल सकती है। आग में हाथ देने से हाथ जलेगा ही। प्रार्थना द्वारा क्या आग में हाथ देने पर जलने से बचाया जा सकता है?

प्रार्थना द्वारा कर्म फल भोग नहीं मिटाया जा सकता है।

प्रार्थना का अर्थ है माँगना। जो चीज मेरे पास नहीं है अथवा जिस वस्तु की कमी मैं समझता हूँ वह वस्तु मैं भगवान से मांगता हूँ। भगवान से हमलोग क्यों मांगते हैं?

क्योंकि वही एकमात्र देनेवाला है और इच्छा करने से ही हम सबों के अभाव को वह पूर्ण कर सकता है। इसी विश्वास पर जिस चीज की कमी हमलोगों को है वह हम भगवान से मांगते हैं। प्रार्थना द्वारा या मांग कर हम भगवान की इच्छा को जगाते हैं, क्योंकि जब तक न उसकी देने की इच्छा जागती है या होती है तब तक वह देगा कैसे ? यह जो प्रार्थना द्वारा हम अपनी कमी पूरा करने के लिए भगवान की इच्छा जगाते हैं, इस पर गंभीर भाव से चिंतन करके देखिये, तो क्या इसके पीछे यह भाव नहीं मालूम पड़ता है कि हमलोग जिस वस्तु की कमी अनुभव करते हैं भगवान ने अपनी इच्छा से ही हमलोगों को उस वस्तु से वंचित किया है। तभी न हम प्रार्थना द्वारा उनको उनका दोष दिखा कर उनकी देने की इच्छा को जगाते हैं। जैसे, मुझे रुपये की कमी है और इस कमी को पूरा करने के लिए मैं भगवान से प्रार्थनाा करता हूँ कि हे भगवान ! मुझे रुपया दो। जब एक मात्र देने वाला वही है और मैं देखता हूँ कि मुझे रुपये की कमी है, तब तो देनेवाला ही का न दोष है कि उसने अपनी इच्छा से ही मुझे रुपये के अभाव में रक्खा है। इसलिए रुपये के लिए जब प्रार्थना करते हैं या रुपया जब चाहते हैं तब क्या उस समय हम उसकी गलती नहीं बता रहे हैं कि, हे भगवान ! आप ही जब एकमात्र देनेवाले हैं और मुझ को जब रुपये की कमी है, तब तो आपने ही मुझे रुपया नहीं दिया है। इसीलिए मैं आप से रुपया मांगता

हूँ। अतएव, देखता हूँ कि प्रार्थना या मांगना भगवान की त्रुटि दिखाना है, और कुछ नहीं, क्योंकि प्रार्थना के पीछे जिस वस्तु का अभाव है क्या वह एकमात्र देनेवाले की त्रुटि नहीं है? भगवान की इस त्रुटि से क्या यह भी समझ नहीं पड़ता है कि सब पर उनकी समान दृष्टि नहीं है? उसकी इस त्रुटि से यह बात भी समझी जाती है, क्योंकि एक आदमी को जब रुपया का अभाव नहीं है और मुझको है, तो देनेवाले ने ही पक्षपात किया है न कि एक आदमी को उसने इतना रुपया दिया है कि उसको कमी नहीं है और मुझको नहीं दिया है इसीलिए मुझको कमी है। अतएव, भगवान से जब प्रार्थना करते हैं, तो क्या उस समय उस पर पक्षपात का दोषारोपन करके उसको उसकी त्रुटि नहीं दिखाते हैं? इस तरह देखता हूँ कि प्रार्थना करने का अर्थ है भगवान को उसकी गलती बताना तथा उसके ऊपर पक्षपात का दोषारोपन छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। प्रार्थना करने का जब यही अर्थ है तो भगवान से प्रार्थना करना या माँगना मूर्खता और अज्ञानता छोड़ कर और क्या है? कर्म मैंने किया है और उसका फल भी मुझको ही भोगना पड़ेगा। प्रार्थना करके भगवान को हम अपने भोग के लिए उत्तरदायी बनाकर, उसको उसकी गलती बताकर, और

प्रार्थना केवल भगवान की त्रुटि दिखाना है और उसके ऊपर पक्षपात का दोषारोपन करना है।

उसके ऊपर पक्षपात का दोषारोपन करके, क्या कर्मफल भोग से मुक्ति पा सकते हैं ?

आग में हाथ डालने से हाथ जलेगा ही, क्योंकि आग का धर्म ही है जलाना। आग में हाथ डालकर यदि मैं भगवान से प्रार्थना करूँ कि, हे भगवान ! मेरा हाथ न जले या मैं हाथ जलनेवाला मनोकष्ट न पाऊँ और यदि भगवान मेरी प्रार्थना सुनेंगे तो उनको क्या करना होगा ? मेरा हाथ न जले इसलिए भगवान को आग का धर्म नष्ट करना होगा, अर्थात् आग की जलाने की शक्ति को नष्ट करना होगा और नहीं तो मेरे हाथ को ऐसा कर देना होगा जिससे मेरा हाथ आग में न जल सके। किन्तु, यह क्या सम्भव है ? प्रकृति सृष्ट वस्तुएँ अपना-अपना धर्म निभा रही हैं, इसीलिए सृष्टि इतना सुन्दर तरीके से चल रही है। कहीं भी थोड़ी सी भी विशृंखलता नहीं है। क्या भगवान से प्रार्थना करके उसका बनाया हुआ नियम तोड़ा जा सकता है या वह क्या प्रार्थना करने पर मेरे लिए अपने नियम को तोड़ेगा ? प्रार्थना द्वारा जब भगवान को हम अपने भोगों का उत्तरदायी बनाते हैं, उसको उसकी त्रुटियां दिखलाते हैं, और उसके ऊपर पक्षपात का दोषारोपन करते हैं, तो क्या मेरी प्रार्थना द्वारा खुश होकर वह अपना नियम तोड़ देगा ? ऐसी आशा यदि कोई करता है, तो क्या यह मूर्खता या अज्ञानता नहीं है ?

इसलिए प्रार्थना से वह अपने बनाये हुए नियम को नहीं तोड़ सकता है।

जब प्रकृति का स्वयंसिद्ध नियम है कि जैसा कर्म मनुष्य करेगा वैसा ही फल वह पायगा, तो प्रार्थना की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि कर्म का फल मुझको भोगना ही पड़ेगा। उससे छुटकारा पाने का कोई भी उपाय नही है। प्रकृति का जब यही नियम है, तो प्रार्थना द्वारा कर्मफल भोग कभी भी नहीं मिटाया जा सकता है। प्रार्थना द्वारा जब कर्मफल भोग नहीं मिटाया जा सकता है तो कर्मफल भोग से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करना केवल समय नष्ट करना है।

प्रार्थना करना केवल समय नष्ट करना है, इससे कोई काम नहीं निकलता है।

अब देखिए स्तुति क्या है और उसका क्या फल होता है। स्तुति का साफ-साफ अर्थ है, खुशामद। खुशामद मैं किसकी करता हूँ और क्यों करता हूँ? उसी की खुशामद मैं करता हूँ जिससे कि कोई काम निकालना चाहता हूँ। स्तुति द्वारा मैं भगवान का गुणगान करता हूँ। जैसे, हे भगवान, तुम दयालु हो, तुम सर्वशक्तिमान हो, तुम मंगलमय हो, इत्यादि।

गंभीर भाव से विचार करके देखिए, क्या यह सब बात कहकर मैं भगवान की खुशामद नहीं करता हूँ? भगवान क्या नहीं जानता है कि वह दयालु, सर्वशक्तिमान, मंगलमय है?

स्तुति करना खुशामद करना है।

उसको दयालु, सर्वशक्तिमान, या मंगलमय कह कर उसकी स्तुति करने का अर्थ क्या यह नहीं कि उसको

गुणों की याद दिलाता हूं ? जो जिस से गुणान्वित है उसको उसके गुणों की याद दिलाना क्या उसकी खुशामद करना नहीं हुआ ? स्तुति जब भगवान का ही गुणगान करना है तो उसको खुशामद छोड़कर और दूसरा क्या कहा जा सकता है। मैं उसी की खुशामद करता हूँ जिससे मेरा कुछ काम निकलता है या निकल सकता है। इस तरह देखता हूँ कि खुशामद या स्तुति के पीछे भी प्रार्थना प्रच्छन्न भाव से है। पहले ही कहा जा चुका है, प्रार्थना करना समय नष्ट करना है और स्तुति का उद्देश्य ही जब माँगना या काम निकालना है तो क्या यह भी बेकार नहीं है ? स्तुति के पीछे प्रार्थना अप्रकट रूप से है यह बात मैं क्यों कहता हूँ ? जब कहता हूँ कि हे भगवान ! तुम दयालु हो तो उसके पीछे क्या यह भाव नहीं रहता है कि तुम दयालु हो, इसलिए मुझ पर दया करो। फिर जब कहता हूँ कि तुम सर्व-शक्तिमान हो तो क्या यह नहीं बुझाता है कि तुम सर्वशक्तिमान हो इसलिए तुम अपनी शक्ति द्वारा मेरा अभाव दूर करो या कर्मफल भोग से मुझको मुक्त करो। फिर भगवान को मंगलमय कहने से यह बुझाता है कि वह मंगलमय है इसलिए मेरा मंगल करे। इस युक्ति द्वारा मैं देखता हूँ कि स्तुति के पीछे प्रार्थना ही अप्रकट रूप से

स्तुति के पीछे प्रार्थना प्रच्छन्न भाव से है।

इसलिए स्तुति भी बेकार है और समय नष्ट करने वाला है।

है। अतएव, स्तुति भी बेकार है और स्तुति करने से भी समय नष्ट करना है।

देखता हूँ कि प्रार्थना का अर्थ हुआ माँगना और स्तुति का अर्थ हुआ खुशामद। इन दोनों से कोई काम नहीं निकलता है और दोनों ही से समय नष्ट होता है। अब देखिए भक्ति क्या है और उसकी क्या आवश्यकता है। भक्ति शब्द की उत्पत्ति हुई है भज + क्तिन् और इसका अर्थ है भजन करना या पुकारना। भक्ति स्तुति या खुशामद नहीं है या प्रार्थना भी नहीं है। भक्ति जब प्रार्थना या स्तुति नहीं है वरन् केवल भजना या पुकारना है, तो क्या इस पुकारने की कोई आवश्यकता है? फिर कैसे पुकारेंगे और क्यों पुकारेंगे? जो अणुचैतन्य सगुणब्रह्म की सृष्टि का उद्देश्य मान कर चलता है, अर्थात् शीघ्र ही व्यापक में वापस चला जाना चाहता है या मुक्ति चाहता है, उसी को व्यापक की भक्ति या भजन करने की जरूरत पड़ती है क्योंकि व्यापक में शीघ्र ही वापस जाने का एक मात्र पथ है उसकी भक्ति या भजन करना यानी उसको पुकारना। व्यापक को पुकार कर या उसका भजन करके व्यापक में क्या शीघ्र वापस जाया जा सकता है? हमलोगों का मन ऐसी शक्तिशाली सूक्ष्म वस्तु से बना है कि वह जिस भाव से भावित होता है वही वह स्वयं ही हो जाता है। जैसे, यदि कोई अपने को पागल

भक्ति है भजन करना, वह स्तुति या खुशामद नहीं है।

समझने लगे तो वास्तव में वह एक दिन पागल हो जायगा। फिर यदि एक स्वस्थ आदमी को कहा जाय कि तुमको राजयक्ष्मा हुआ है और यदि वह रात दिन सोचने लगे कि उसको राजयक्ष्मा हुआ है तो निश्चय ही उसको यह रोग हो जायगा। यही कारण है कि डाक्टर ऐसे रोगियों को उनके रोग की बात नहीं बताते हैं, यानी उनसे उनके रोग की बात छिपा कर रखते हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि हमारा मन ऐसा शक्तिशाली है कि वह जिस भाव से भावित होता है वही वह हो जाता है। जो अणुचैतन्य व्यापक में शीघ्र ही वापस जाना चाहता है उसको वही व्यापक भाव लेकर ही तो व्यापक को पुकारना होगा या उसका भजन करना होगा। "मैं वही व्यापक हूँ" यदि इस भाव से अणुचैतन्य भावित होता रहे तो क्या एक न एक दिन स्वयं ही वह व्यापक नहीं हो जायगा ? इसलिए व्यापक की भक्ति, या भजना, या पुकारना है व्यापकभाव से भावित होना। इस तरह देखता हूँ कि भक्ति का अर्थ

व्यापक भाव से भावित होना भक्ति है।

जब व्यापक भाव से भावित होना है, तो इसका अर्थ प्रार्थना या स्तुति नहीं हो सकता है। बहुत लोग कहेंगे कि भक्ति द्वारा भी तो हम लोग व्यापक में वापस जाना चाहते हैं, तो क्या भक्ति प्रार्थना या माँगना नहीं हुआ ? अणुचैतन्य का व्यापक में वापस जाना या वापस जाने की इच्छा करना क्या प्रार्थना या माँगना है ? सगुणब्रह्म का उद्देश्य है कि वह जिस

तरह स्वयं मुक्त पुरुष है उसी तरह उसका प्रत्येक अणु भी मुक्त पुरुष बने। यही उद्देश्य लेकर उसने प्रत्येक अणु को मनुष्य में व्यापक रूप से विकशित कर दिया है जिस से वह अपने को मुक्त बना सकता है। जब व्यापक का ही उद्देश्य है प्रत्येक अणुको मुक्त करा देना तब यदि कोई अणुचैतन्य मुक्ति हेतु भजन करता है, तो क्या वह प्रार्थना करता है? वह तो व्यापक की ही इच्छा की पूर्ति करना चाहता है, या उसका उद्देश्य पूर्ण करने की चेष्टा करता है। सगुणब्रह्म के उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए अणुचैतन्य उसकी भक्ति या भजन करता है, या पुकारता है तो भक्ति को प्रार्थना का पर्याय कैसे कह सकते हैं? भक्ति है व्यापक भाव से भावित होना, अतएव भक्ति प्रार्थना या स्तुति नहीं है। प्रार्थना या स्तुति द्वारा कोई काम नहीं होता है, केवल समय नष्ट करना है और भक्ति अथवा भजन छोड़कर व्यापक में वापस जाने का कोई दूसरा पथ नहीं है। अतएव, जो व्यापक में शीघ्र ही लौट जाना चाहते हैं उनके लिए भक्ति या भजन ही एकमात्र पथ है। प्रार्थना या स्तुति उनके लिए केवल बिना कारण समय नष्ट करने के अलावे कुछ भी नहीं है।

व्यापक में वापस जाने के लिए भक्ति छोड़ कर दूसरा रास्ता नहीं है।

देखता हूँ कि कर्मफल भोग से छुटकारा नहीं हो सकता है और प्रार्थना तथा स्तुति से भी कोई काम नहीं हो सकता है।

ऐसी हालत में हमलोगों को क्या करना चाहिए ? हमलोगों के लिए उचित है कि जो कर्म कर चुके हैं उसका फल भोग कर उससे शिक्षा ग्रहण करें कि ऐसा कुकर्म और न करें जिससे इस तरह का कुफल हमको भोगना पड़े। आग में हाथ डालने से हाथ जलेगा ही और उससे छुटकारा पाने के लिए भगवान से प्रार्थना या स्तुति करने का जब कोई मूल्य नहीं है, तो हाथ जलने से छुटकारा पाने का क्या उपाय है ? आग में हाथ नहीं देना ही सबसे सीधा उपाय है। आग में हाथ न देने से तो मेरा हाथ नहीं जलेगा और हाथ न जलने से भगवान से प्रार्थना भी नहीं करना पड़ेगा कि हाथ न जले, अतएव यही सबसे सीधा उपाय है। आग में हाथ डालेंगे ही नहीं तो हाथ जलेगा कैसे, अर्थात् कुकर्म नहीं करेंगे तो कुफल पाएंगे कहाँ से ?

अब देखिए कर्मफल भोग की सृष्टि भगवान ने क्यों की है। सगुणब्रह्म की सृष्टि बनाने का उद्देश्य है कि उसका प्रत्येक अणु उसी जैसा मुक्त हो। इस महत् उद्देश्य को लेकर जब उसने सृष्टि की रचना की है तो उसको मंगलमय छोड़कर और क्या कहा जा सकता है। स्वयं मुक्त पुरुष होकर भी अपनी ही इच्छा से प्रकृति के अधीन आया है, इसीलिए उसको मंगलमय या भगवान कहते हैं। सृष्टि की रचना का उद्देश्य ही जब प्रत्येक अणु के मंगल के लिए है तो उसका बनाया हुआ नियम भी सभी जीव या अणुचैतन्य के मंगल के ही लिए है।

कर्मफल का भोग अतएव, कर्मफल भोग भी जीव के मंगल के

जीव के मंगल के ही लिए सृष्ट हुआ है।

ही लिए है, क्योंकि इसी कर्मफल भोग रूपी हथियार से भगवान अपने अणुचैतन्य को कुकर्म करने से रोकता है जिसके फलस्वरूप आत्मा की उन्नति होती है या जीव मुक्ति पाता है, यानी सगुणब्रह्म का उद्देश्य सिद्ध होता है। भगवान सर्वदा हमलोगों को अपने कर्मफल भोग दण्ड द्वारा कुकर्म न करने की शिक्षा देता रहता है, किन्तु हमलोग बिना सोचे समझे भगवान को दोष देते हैं कि, हे भगवान! तुमने हमारा क्या कर दिया। उससे फिर प्रार्थना भी करते हैं कि मुझको इस विपद या दुख से मुक्त करो, जो कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए कर्मफल भोग द्वारा हमलोगों को शिक्षा लेना चाहिए कि हमलोग ऐसा कुकर्म फिर न करें जिससे हमलोगों को फिर ऐसा फल भोगना पड़े। इस तरह देखता हूँ कि कर्मफल भोग को शिक्षा रूप से न लेकर भगवान को दोष देना पूर्णरूप से अज्ञानता का परिचय देता है। जैसे, एक आदमी के साथ बातावाती करते करते

कर्मफल भोग को शिक्षा रूप में ग्रहण करना ही कर्त्तव्य है और बुद्धिमानी का काम है।

मैं ने उसको गाली दी जिसके कारण उसने मुझसे मारपीट की। मैं ने जो मार खायी इस पर मुझे क्या करना चाहिए? इससे मुझको क्या यह शिक्षा नहीं लेनी चाहिए, कि किसी को गाली नहीं देनी चाहिए, जिसके फलस्वरूप मार खानी पड़ती है या उलटा मैं उसी को

दोष दूँगा कि तुमने मुझको क्यों मारा या हो सके तो मैं भी मार बैठूँ जिससे कि झगड़ा और भी जटिल हो जायगा। मेरे लिए यही उचित है कि इससे मैं यह शिक्षा ग्रहण करूँ कि किसी को भी गाली नहीं देनी चाहिए नहीं तो मार खानी पड़ेगी। उसको यदि मैं उलट कर मारता हूँ, तो क्या मैं अन्याय नहीं करता हूँ ? इसीलिए कर्मफल भोग को सर्वदा शिक्षा रूप से समझ कर नया फिर कोई कुकर्म नहीं करना चाहिए। यही है बुद्धिमानी का काम और प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य।

७

मनुष्य का लक्ष्य क्या है?

सृष्टि रहस्य में हम देखते हैं कि सगुणब्रह्म को अपने प्रत्येक अणु को मुक्त पुरुष बनाने के लिए सृष्टि की रचना करनी पड़ती है; क्योंकि अपने सूक्ष्म शरीर को अणुअंश में बाँटने के लिए उसको स्थूल क्षितितत्त्व का रूप लेना पड़ता है। इससे यह साबित होता है कि सगुणब्रह्म की सूक्ष्म देह का भाग नहीं किया जा सकता है या सगुणब्रह्म एक अखंड ज्ञान–सत्ता है। इसी अखंड ज्ञान सत्ता की कल्पना सृष्टि है, जहाँ वह अपने को बहुत भागों में बँटा हुआ सोचता है।

सगुणब्रह्म एक अखण्ड ज्ञान सत्ता है।

सृष्टि तत्त्व में हम देखते हैं कि कल्पना-धारा सगुण ब्रह्म की देह से निकलकर फिर उसी की देह में मिल जाती है। मनुष्य इस कल्पनाधारा के क्रम में सबसे अन्त में है। अतएव, मनुष्य सगुणब्रह्म की कल्पनाधारा के अनुसार एक न एक दिन सगुणब्रह्म की सूक्ष्म देह में मिल जायगा। सगुणब्रह्म की सूक्ष्म देह अखण्ड है, अतएव वहाँ मनुष्य का या अणुचैतन्य का अलग अस्तित्व नहीं रहेगा। वहाँ वह स्वयं ही सगुणब्रह्म हो जायगा। जैसे, एक बून्द जल और एक कटोरा

अतएव, सगुणब्रह्म

में मिल जाने के बाद अणुचैतन्य का अस्तित्व पृथक नहीं रहता है।

जल। एक बून्द जल जबतक एक कटोरा जल से अलग है तबतक वह एक बून्द जल है, किन्तु जैसे ही एक कटोरा जल के साथ मिल जाता है वह अपना बिन्दुत्व खोकर एक कटोरा जल हो जाता है। अर्थात्, तब मैं एक बून्द जल का अलग अस्तित्व नहीं पाता हूँ।

यदि अणुचैतन्य सगुणब्रह्म की देह में मिल जाय तब भी वह निर्गुणब्रह्ममें नहीं मिलता है, क्योंकि सगुणब्रह्म एक अखण्ड सत्ता होने के कारण अणुचैन्य अपनी सत्ता खोकर सगुणब्रह्म हो जाता है। फलस्वरूप, सगुणब्रह्म का उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है।

इस तरह देखता हूँ कि अणुचैतन्य यदि सगुणब्रह्म की कल्पनाधारानुसार या स्वयं साधना करके सगुणब्रह्म या भगवान के साथ मिल जाय तब भी सगुणब्रह्म का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य है कि उसका प्रत्येक अणु निर्गुण यानी अपने असली रूप में चला जाय। यह जो भगवान या सगुणब्रह्म के साथ अणुचैतन्य का मिलकर एक होना है यही मुक्ति है, क्योंकि वह मुक्ति पाता है सगुणब्रह्म की कल्पनाधारा या सृष्टि से। किन्तु, यह मुक्ति क्या वास्तव में मुक्ति है? सगुणब्रह्म की देह से उसी की

सगुणब्रह्म में मिल जाना ही मुक्ति है।

कल्पनाधारा के अनुसार अणुचैतन्य निकल कर सृष्टि में रूप लेता है, अतएव आज जिस अणुचैतन्य ने अपनी साधना या सगुण की कल्पनाधारानुसार

मुक्ति पाई है या सगुण की देह में जाकर मिल गया है उसको क्या सगुण की कल्पना के अनुसार फिर सृष्टि में रूप नहीं लेना पड़ेगा ? जब सगुण की इच्छा है अपने प्रत्येक अणु को निर्गुण में भेजना तो वह फिर अपनी देह को अणुअंश में बाँटेगा या जो अणु आज उसमें जाकर मिल गया है उसको फिर सृष्टि में आना होगा, क्योंकि सगुण का संकल्प ही है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त कराना और जबतक न उसका संकल्प पूरा होता है तबतक वह अपनी ही इच्छा

से बंधन में पड़ा रहता है। इस प्रकार

किन्तु वह मुक्ति देखता हूँ कि सगुणब्रह्म या भगवान के प्रकृत मुक्ति नहीं है। साथ मिल जाने से जो मुक्ति होती है

वह प्रकृत मुक्ति नहीं है।

प्रकृत मुक्ति तब क्या है ? प्रकृत मुक्ति है अणुचैतन्य का निर्गुणब्रह्म में जाना या निर्गुणब्रह्म की उपलब्धि करना, जिसका नाम मोक्ष है। निर्गुणब्रह्म में जाने से प्रकृति फिर गुणयुक्त नहीं कर सकती है, फलतः सृष्टि में फिर कभी भी आना नहीं पड़ेगा और इसी से सगुण का उद्देश्य सिद्ध होगा।

जब सगुण का उद्देश्य अपने प्रत्येक अणु को निर्गुण की उपलब्धि कराना है, यानी उसका प्रत्येक अणु मोक्ष

लाभ करे, तो प्रत्येक मनुष्य का भी लक्ष्य

मोक्ष या कैवल्य होना चाहिए निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि

मुक्ति प्रकृत मुक्ति है, अतएव यही प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए।	करना या मोक्ष लाभ करना। अतएव, सगुण या भगवान के साथ मिलना या मुक्ति लाभ करना मनुष्य का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य और ऊँचा है जो मोक्ष या कैवल्य मुक्तिलाभ है।

साधना तथा उसका प्रयोजन क्या है ?

देखिए, साधना क्या है और उसकी आवश्यकता है या नहीं। मुक्ति के लिए जो चेष्टा की जाती है उसी का नाम साधना है। मुक्ति क्या है और यह मुक्ति हेतु चेष्टा का संभव है या नहीं ? निर्गुण ब्रह्म या ब्रह्म नाम साधना है। के स्वरूप में हम पुरुष को प्रकृति के गुण से मुक्त अवस्था में पाते हैं और सगुण ब्रह्म में पुरुष को प्रकृति के गुण से युक्त पाते हैं। सृष्टि तत्त्व में यह भी देखते हैं कि पुरुष ने ही प्रकृति के गुण से गुणान्वित होकर इस सृष्टि में रूप लिया है और प्रकृति उसको जिस भाव से चलाती है वह उसी भाव से चलता है। प्रकृति जब पुरुष को अपनी इच्छानुसार चलाती है, तो पुरुष निश्चय ही प्रकृति के अधीन है। सगुणब्रह्म में पुरुष प्रकृति के अधीन है या उसके गुण से गुणान्वित है, इसलिए सगुणब्रह्म को हम ब्रह्म का स्वरूप नहीं कहते हैं। ब्रह्म का रूपान्तर मात्र कहना पड़ता है। अतएव, मुक्ति कहने से हम समझते हैं पुरुष का प्रकृति के गुण से मुक्त होकर अपने स्वरूप में लौट जाना जहाँ पुरुष स्वाधीन हो जायगा, अर्थात्

प्रकृति पुरुष को अपने गुणों से गुणान्वित नहीं कर सकेगी। इसी मुक्ति को, जिसमें पुरुष निर्गुणब्रह्म या स्वरूप में लौट जाता है, ऊपर वाले अध्याय में मोक्षलाभ या कैवल्य मुक्ति कहा गया है अतएव, इस अध्याय में मुक्ति कहने से कैवल्य मुक्ति ही समझना चाहिए। पुरुष प्रकृति के गुण से बँधा है, अतएव पुरुष को ही मुक्ति हेतु चेष्टा करना होगा। इसीलिए मुक्ति हेतु चेष्टा या साधना पुरुष ही करता है, जिससे कि वह प्रकृति के गुण से मुक्त होकर स्वरूप में वापस जा सके।

पुरुष को ही साधना करना है।

अब देखें मुक्ति सम्भव है या नहीं, क्योंकि मुक्ति यदि असम्भव है तो साधना करके समय नष्ट करना युक्तिसंगत नहीं है। सृष्टि रहस्य में ही हमलोग देख चुके हैं कि सगुण-ब्रह्म पहले बद्ध पुरुष था। उस समय उसका नाम प्रजापति था। बाद में, साधना करके जब वह मुक्त हुआ तब उसका नाम हिरण्यगर्भ हुआ। इससे हम देखते हैं कि बद्ध पुरुष साधना करके मुक्त पुरुष हो सकता है। मुक्त पुरुष उसी को कहते हैं जो निर्गुण की उपलब्धि करता है और निर्गुण की उपलब्धि करने से ही मुक्ति होती है। अतएव, हम देखते हैं कि मुक्ति संभव है और उसके लिये आवश्यकता है साधना की। साधना करके ही प्रजापति

मुक्ति सम्भव है और इसके लिए आवश्यकता है साधना की।

हिरण्यगर्भ हुआ है।

मुक्ति संभव है, किन्तु उसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। अब देखें किस तरह से साधना करने से मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति का अर्थ है पुरुष का प्रकृति के गुण से मुक्त होना, अतएव जिस पद्धति द्वारा पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त हो पाता है उसी पद्धति को हम साधना कहते हैं। इस साधना की पद्धति क्या है ?

सृष्टि रहस्य में देखते हैं कि अणुचैतन्य ने स्थूल से सूक्ष्म में वापस जाने वाले मार्ग के बीच में अपने को व्यापक भाव से विकशित करके सगुणब्रह्म के पंचभूत से बनी एक देह का आश्रय लिया है। अणुचैतन्य ने जैसे ही मनुष्य की देह का आश्रय करके अपने को व्यापक रूप से विकसित किया वैसे ही प्रकृति के गुण से उसने मन पाया। अर्थात्, प्रकृति के सत्वगुण से उसके महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति हुई, रजोगुण से उसका अहंतत्त्व उत्पन्न हुआ है, और तमोगुण से चित्त की सृष्टि हुई है। चित्त का विकाश दशों इन्द्रियाँ द्वारा होता है। इस तरह देखते हैं कि मनुष्य में पुरुष ही प्रकृति के गुण से पहले महत् या बुद्धितत्त्व हुआ, उसके बाद और भी स्थूल यानी वह स्वयं ही अहंतत्त्व हुआ और उसके बाद उससे भी अधिक स्थूल हुआ यानी वह स्वयं ही चित्त बन गया और यहाँ उसके चित्त का विकाश उसकी दशों इन्द्रियाँ

साधना है चित्त द्वारा होने लगा। मनुष्य में जब अणुचैतन्य

को अहंतत्त्व में, अहंतत्त्व को बुद्धि तत्त्व में,

या आत्मा प्रकृति के गुण द्वारा धीरे-धीरे चित्त पर्यन्त स्थूल में परिवर्त्तित हुआ है, तो अणुचैतन्य को प्रकृति के गुण से मुक्त होने के लिए धीरे-धीरे चित्त से अहंतत्त्व, अहंतत्त्व से महत्तत्व, और महत्तत्व से अणुचैतन्य में वापस जाना होगा, तभी न अणुचैतन्य की मुक्ति होगी। अतएव, साधना हुआ पहले अहंतत्त्व में ले जाना उसके बाद अहत्तत्व को महत्तत्त्व में वापस ले जाना, और सबसे अन्त में महत्तत्व को अणुचैतन्य में वापस ले जाना। अर्थात्, प्रकृति के गुणों को धीरे-धीरे समेट कर एकदम शक्तिहीन कर देना है, जिससे वह फिर पुरुष पर अपना प्रभाव या गुण विस्तार न कर सके। पहले ही कह चुके हैं कि पुरुष को ही प्रकृति के गुणों से मुक्त होने के लिए साधना करना होगा। अतएव, मनुष्य में पहले चित्त रूपी पुरुष साधना द्वारा अपने को प्रकृति के गुणों से मुक्त करता है, जिसके फलस्वरूप चित्त की वृत्ति बन्द हो जाती है। तब केवल अहंतत्त्व और महत्तत्व रह जाता है। इसके बाद अहंतत्त्व रूपी पुरुष साधना द्वारा अपने को प्रकृति के गुणों से मुक्त करता है, जिसके फलस्वरूप अहंतत्त्व भी नहीं रह जाता है, बचा रहता है केवल महत्तत्व, जिसको सविकल्प समाधि कहते हैं। इसके बाद

और सबसे अन्त में बुद्धितत्त्व को अणुचैतन्य में वापस ले जाना

सविकल्प समाधि।

महत्तत्व रूपी पुरुष अपने को साधना द्वारा

प्रकृति के गुणों से मुक्त करता है, जिसके फलस्वरूप उसका भी लोप हो जाता है, अर्थात् पुरुष सम्पूर्ण रूप के प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है।

निर्विकल्प समाधि। इसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि मनुष्य की मुक्ति के लिये साधना है पहले चित्त का, इसके बाद अहंतत्त्व का, और सबसे अन्त में महत्तत्त्व का प्रकृति के गुण से मुक्त कराना।

मन को प्रकृति के गुण से मुक्त कराना क्या सहज है? मनुष्य में अणुचैतन्य है, किन्तु क्या उसके ऊपर अणुप्रकृति अपने गुण का विस्तार कर रही है? ऐसी बात नहीं है। निर्गुणब्रह्म में पुरुष प्रबल होने के कारण प्रकृति उसके ऊपर गुण का विस्तार नहीं कर पाती है। अनन्त पुरुष के ऊपर जब अनन्त प्रकृति अपने गुण का विस्तार नहीं कर पाती है, तो निश्चय ही अणुपुरुष के ऊपर अणुप्रकृति अपना गुण विस्तार नहीं कर सकेगी, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति निश्चय ही दुर्बल है तभी न वह अनन्त होकर भी पुरुष पर अपना गुण विस्तार नहीं कर पाती है। अतएव, सगुणब्रह्म में यदि कहा जाय कि अणुपुरुष के ऊपर अणुप्रकृति गुणविस्तार कर रही है, तो यह कहना क्या गलत नहीं होगा? प्रकृति जब पुरुष की अपेक्षा दुर्बल है, तो अणुपुरुष की अपेक्षा अणुप्रकृति निश्चय ही दुर्बल होगी और अपनी दुर्बलता के कारण वह पुरुष के ऊपर अपना गुण विस्तार नहीं कर सकेगी। फलस्वरूप,

सगुणब्रह्म की सृष्टि ही नहीं होगी। जब देखते हैं कि अणु-पुरुष के ऊपर अणुप्रकृति अपने प्रभाव का विस्तार नहीं कर पाती है, तो प्रश्न उठता है कि सगुण में कितनी प्रकृति प्रत्येक अणु को प्रभावित करती है? मान लीजिए, प्रत्येक अणुपुरुष पर दो अणुप्रकृति काम करती है तो कहना पड़ेगा कि सगुण-ब्रह्म में भूमा पुरुष के ऊपर दो अनन्त प्रकृति काम करती है। अर्थात् जितनी प्रकृति है उसका दूना काम वह कर रही है। तभी न वह भूमापुरुष को गुणान्वित कर पाती है? यह बिलकुल असंभव है। तब दुर्बल प्रकृति पुरुष को कैसे गुणान्वित करती है? प्रकृति एक शक्ति है, उसका क्या कभी टुकड़ा किया जा सकता है? शक्ति का टुकड़ा नहीं किया जा सकता है, इसलिए कहना पड़ता है कि सगुणब्रह्म में प्रत्येक अणुचैतन्य के ऊपर अनन्त प्रकृति अपनी अनन्त शक्ति का विस्तार करती है।

प्रत्येक अणुचैतन्य के ऊपर अनन्त प्रकृति अपने अनन्त गुण का विस्तार कर रही है।

अनन्त प्रकृति अपने प्रत्येक अणुचैतन्य के ऊपर अपने अनन्त गुण का विस्तार करती है फलस्वरूप अणुचैतन्य को मुक्ति पाने के लिए अनन्त प्रकृति के साथ युद्ध करके उसको हराकर मुक्त होना होगा। अतएव, साधना क्या सहज है?

अतएव, साधना है अणुचैतन्य का अनन्त प्रकृति के साथ युद्ध।

साधना है अनन्त प्रकृति के साथ अणुचैतन्य की लड़ाई। इस युद्ध में यदि अणुचैतन्य

अनन्त प्रकृति को हरा सके तभी वह मुक्त होगा। प्रकृति एक शक्ति है और वह हर समय चंचल है, इसलिए यह सृष्टि परिवर्त्तनशील है। इस जगत् में जो कुछ भी सृष्ट हुआ है सभी उस व्यापक पुरुष का ही विकाश है, इसलिए सृष्टि में परिवर्त्तन के साथ ही साथ व्यापक पुरुष के मन में भी परिवर्त्तन होता रहता है। अर्थात्, व्यापक का प्रकृति सृष्ट मन चंचल होता है, तभी परिवर्त्तन होता है। सृष्टि के परिवर्त्तन में थोड़ा अधिक समय लगता है, क्योंकि प्रकृति इस विराट् भूमापुरुष के मन में परिवर्त्तन लाती है। भूमापुरुष की इस विराटत्व के कारण ही थोड़ा अधिक समय लगता है। यह समय उतनी देर का हुआ जितनी देर में प्रकृति का गुण व्यापक पुरुष के मन को एक बार घूम आता है। इस अनन्त भूमापुरुष के मन को प्रकृति जब चंचल करती है उस समय अणुपुरुष का मन कितना चंचल होगा उसकी तुलना नहीं हो सकती है, क्यों कि अणुपुरुष के घूमने में प्रकृति को अणु समय लगता है। इसी कारण हमलोगों का मन क्षण-क्षण बदलता रहता है। अनन्त प्रकृति अणुपुरुष के ऊपर अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करती है, जिसके फलस्वरूप अणुपुरुष का मन अत्यन्त चंचल हो उठता है। मनुष्य का मन कितना चंचल है यह कहने और समझने की बात नहीं है, क्योंकि

प्रकृति की चंचलता के कारण ही उसका सृष्ट मन भी चंचल होता है।

मन की चंचलता सभी कोई अच्छी तरह समझते हैं। हम-लोगों के मन में यह चंचलता एकमात्र प्रकृति के कारण होती है, अर्थात् चंचल प्रकृति अपनी सृष्ट वस्तु को अपनी ही जैसी चंचला करती है ।

अब देखिए हमलोगों के मन की चंचलता का साधना के साथ क्या सम्बन्ध है। साधना है अणुपुरुष का प्रकृति के गुण से मुक्त होने की चेष्टा करना। प्रकृति स्वयं ही चंचला है, इसलिए वह जहाँ भी रहेगी चंचला होकर ही रहेगी। फलतः उसका सृष्ट मन भी जब तक रहेगा चंचल होकर ही रहेगा, कहीं कम और कहीं ज्यादा। प्रकृति का प्रभाव जहाँ कम है वहाँ चांचलता भी कम है। महत्तत्व में प्रकृति का प्रभाव सब से कम है और चित्त में उसका प्रभाव सबसे अधिक है, इसलिए मनुष्य की बुद्धि से उसका चित्त अधिक चांचल है। साधना द्वारा जैसे-जैसे अणुपुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त होता रहेगा, मन की चंचलता भी उस-की दूर होती जायगी, क्योंकि प्रकृति अपनी चंचलता द्वारा मन को चंचल बना देती है और इस प्रकृति का प्रभाव ही जब कम होने लगेगा तब मन की चंचलता को भी कम होना पड़ेगा। तो देखता हूँ कि चंचल मन को स्थिर करने का माने है

जहाँ प्रकृति का प्रभाव मन पर अधिक है वहाँ चंचलता भी अधिक है और जहाँ कम है वहाँ चंचलता भी कम है ।

इसीलिए मनुष्य की बुद्धि से उसका चित्त अधिकगुण चंचल है।

अणुपुरुष का प्रकृति के गुण के मुक्त होना अतएव, अणुपुरुष जब तक न प्रकृति के से मुक्त होगा तब तक उसका चंचल मन किसी प्रकार भी स्थिर नहीं हो सकता है।

अंग्रेजी में चंचल मन को स्थिर करने का नाम है concentration of mind. हम देखते हैं कि concentration of mind तब तक किसी प्रकार भी नहीं होता है जब तक अणुपुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं होता है, अर्थात् अणुपुरुष साधना या चेष्टा द्वारा जिस अनुपात में प्रकृति के गुण से मुक्त होगा उसका मन उसी अनुपात में स्थिर (concentrated) हो सकेगा।

concentration of mind कहने से अणुपुरुष का प्रकृति के गुण से मुक्त होना बुझाता है।

अतएव, concentration of mind कहने से अणुपुरुष का प्रकृति के गुण से मुक्त होना क्या नहीं बुझाता है ? concentration of mind है मन को एकाग्र करना और मन तभी एकाग्र होगा जब प्रकृति के गुण से वह गुणान्वित नहीं होगा। मन के ऊपर से प्रकृति के गुण को हटाने के लिये प्रथम चित्त से उसको दूर करना होगा, इसके बाद अहं-तत्त्व से, और सब से आखिर में महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व से। अर्थात्, धीरे-धीरे मन को पहले चित्त से, उसके बाद अहं-तत्त्व से, और सब से आखिर में महत्तत्त्व से समेटना होगा।

तभी न cohcentration of mind होगा या बिखरा हुआ मन एकाग्र होगा ? इस तरह देखता हूँ कि concentration of mind साधना छोड़कर और कुछ भी नहीं है, अर्थात् अणुपुरुष का प्रकृति के गुण से मुक्त होने का ही अंग्रेजी में नाम है concentration of mind.

इसलिए con-cetration of mind साधना के सिवा कुछ नहीं है।

देखा जाय concentration of mind द्वारा मुक्ति पाया जाता है या नहीं। concentration of mind से हम समझते हैं मन को एकाग्र करना। मन को जब एकाग्र किया जाता है उस समय मनका अस्तित्त्व तो रह ही जाता है, वह ध्वंस नहीं होता है। मन जब रहता है, तो प्रकृति का गुण रहेगा ही। अतएव, प्रकृति के गुण से अणुपुरुष मुक्त नहीं हो पाता है, क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि मन की सृष्टि होती है प्रकृति के गुण के प्रभाव से। मुक्ति या निर्वाण तभी होगा जब प्रकृति के गुण से पुरुष पूर्णरूप से मुक्त हो जायगा, अर्थात् मन एकदम ध्वंस हो जायगा। अतएव, मन की एकाग्रता (concentration of mind) मुक्ति नहीं है, मुक्ति की सच्ची राह है। मन जब एकाग्र हुआ है या mind पूर्ण रूप से concentrated हुआ है तब भी मन है, किन्तु प्रकृति का चंचल प्रभाव पूर्णरूप से कम हो गया है। कहा जा चुका है कि प्रकृति के गुण का प्रभाव मन के महत्त्तत्व या बुद्धितत्त्व के

ऊपर सबसे कम है। इसलिए मन एकाग्र (Mind concentrated) होने पर केवल महत्तत्व रह जाता है, क्योंकि एकाग्र मन (concentrated mind) में मन तो नष्ट नहीं होता है, इसलिए महत्तत्त्व भी नष्ट नहीं होता है। महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व रहने से ही "मैं हूँ" का बोध रह जाता है, इसीलिए महानिर्वाण नहीं होता है। अतएव, पूर्ण रूप से मुक्ति या महानिर्वाण एकाग्र मन concentrated mind) नहीं है। एकाग्र मन (concentrated mind) सविकल्प समाधि है, जहाँ केवल यही बोध रहता है कि मैं वही हूँ।

एकाग्र मन (concentrated mind) ही सविकल्प समाधि है। अतएव, यह महा निर्वाण या मोक्ष नहीं है।

प्रकृति के गुण द्वारा ही सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल में आई है, अर्थात् जहाँ प्रकृति का प्रभाव कम है वहाँ वह अधिक सूक्ष्म है और जहाँ अधिक है वहाँ वह अधिक स्थूल है। यही कारण है कि हमलोग महत्तत्व को सबसे सूक्ष्म और चित्त को सब से स्थूल पाते हैं। मन द्वारा ही हमलोगों को साधना करके मुक्त होना पड़ेगा। जब प्रकृति के गुण द्वारा सूक्ष्म वस्तु स्थूल बनी है, तो साधना द्वारा प्रकृति का गुण ज्योंही कम होगा त्योंही मन भी सूक्ष्म में वापस चला जायगा। साधारणतः मनुष्य का मन इस जगत् की वस्तुओं में, जो कि व्यापक चित्त के ऊपर प्रकृति के चरम गुण प्रयोग के कारण सृष्ट हुआ है,

अर्थात् जो चरम स्थूल है, अटका रहता है। अतएव, चरम स्थूल में मन अटकाने का माने है प्रकृति के वश में रहना। पहले ही कह चुका हूँ कि अणुचैतन्य ने जैसे ही मनुष्य का आश्रय लिया मनुष्य ने भी स्वाधीनता पाई, इसलिए वह प्रकृति के अधीन में और नहीं रहना चाहता है। इसीलिए प्रकृति ने मनुष्य के लिए दो माया की सृष्टि बनाई है। ये दोनो माया हैं, विद्या और अविद्या। जो मनुष्य स्वाधीनता पाकर विद्या-माया का आश्रय लेता है वह शीघ्र ही स्वरुप में लौट जाता है, क्योंकि विद्यामाया मन को सूक्ष्म की ओर ले जाती है। जो मनुष्य अविद्यामाया का आश्रय लेता है वह अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता हुआ सगुणब्रह्म में घूमता रहता है। यह अविद्यामाया है षट् रिपु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और अष्ट पाश—घृणा, लज्जा, भय, शंका, जुगुप्सा, कुल, शील, मान। इसी अविद्या-माया द्वारा प्रकृति मन को स्थूल में फँसा कर रखती है, अर्थात् मन को स्थूल में अटकाने के लिए प्रकृति अविद्यामाया रूपी अस्त्र का व्यवहार करती है। साधना द्वारा मनुष्य जब प्रकृति के गुण से मुक्त होता है तब उसका मन सूक्ष्म की ओर जा पाता है, क्योंकि मन पर प्रकृति का प्रभाव घटते ही वह सूक्ष्म की ओर जाता है और तब अविद्यामाया का प्रभाव भी कम हो

साधना द्वारा प्रकृति के गुण से मुक्त होने का माने है अविद्या को हटाना।

जाता है, अर्थात् षट् रिपु और अष्टपाश फिर तंग नहीं कर सकते हैं। प्रकृति के गुण से मुक्त होने से अविद्यामाया जैसे कम हो जाती है, उसी तरह अविद्यामाया को यदि कोई काम कर सके तो वह भी प्रकृति के गुण से मुक्त हो सकेगा। इस तरह देखता हूँ कि अविद्यामाया का आश्रय ग्रहण करने से मनुष्य प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं हो सकता है या स्वरूप में नहीं लौट सकता है, क्योंकि अविद्यामाया मन को स्थूल में अटका कर रखती है, जिस कारण मन प्रकृति के गुण से मुक्त नहीं हो पाता है। तो देखता हूँ कि मन की चंचलता घटाना या मन को एकाग्र करना है उसको प्रकृति के प्रभाव से मुक्त करना या मन को स्थूल से सूक्ष्म में ले जाना। जो मनुष्य मन को स्थूल में अटका कर रखता है, अर्थात् अविद्यामाया का आश्रय लेकर रहता है उसका मन कैसे एकाग्र होगा ? अविद्यामाया का आश्रय लेने से या मन को स्थूल में फँसा कर रखने से वह किसी प्रकार भी एकाग्र नहीं हो सकता है या मन की चंचलता किसी प्रकार भी कम नहीं हो सकती है।

वैसे ही अविद्यामाया को कम करने का माने है प्रकृति के गुण से मुक्त होना।

अतएव, अविद्या का आश्रय लेने से प्रकृति के गुण से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो सकते हैं।

इसलिये साधक को अविद्यामाया का परित्याग करना

ही होगा। अतएव, साधक को अविद्यामाया का परित्याग करना ही होगा। यह न होने से प्रकृति के गुण से वह कैसे मुक्त होगा?

साधना करके अणुपुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त होकर अपने स्वरूप में लौट जाता है। कहा जा चुका है कि प्रकृति का प्रभाव या गुण जहाँ अधिक है वहाँ पुरुष का विकाश कम है। पुरुष है ज्ञान या चैतन्य। इस तरह देखता हूँ कि प्रकृति का प्रभाव जहाँ अधिक है ज्ञान का विकाश वहाँ कम है, यानी अज्ञानता वहाँ अधिक है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि प्रकृति का प्रभाव या गुण ही अज्ञानता का कारण है, तो प्रकृति का प्रभाव जितना कम होगा अज्ञानता भी उतनी ही दूर होगी

साधना द्वारा ज्ञान की वृद्धि अथवा पुरुष का विकाश होता है।

साधना है प्रकृति के गुण को घटाना या अज्ञानता को दूर करना। साधना द्वारा जब प्रकृति के गुण को कम करना है या अज्ञानता दूर करना है, तो निश्चय ही इसके द्वारा पुरुष का विकाश यानी ज्ञान की वृद्धि होती है।

साधना है अणुपुरुष का अनन्त प्रकृति के साथ युद्ध करके उसको जीत कर मुक्त होना। प्रकृति शक्ति है। अतएव, साधना है शक्ति को पराजित कर मुक्त होना, जिससे शक्ति उसके ऊपर फिर गुण या प्रभाव का विस्तार न

कर सके। कहा जा चुका है कि पुरुष और प्रकृति कभी भी अलग-अलग नहीं रह सकते हैं, इसलिए प्रकृति युद्ध में हारने के बाद भी तो पुरुष के साथ ही रहेगी। युद्ध के पहले वह मालिक जैसा रहेगी, अर्थात् वह अपनी इच्छानुसार पुरुष को चलायगी, किन्तु युद्ध में जब वह पराजित होगी तब पुरुष ही उसका प्रभु हो जायगा, अर्थात् पुरुष अनन्त शक्ति का अधिकारी हो जायगा। अतएव, जब देखता हूँ कि साधना शक्ति को पराजित करके उसके ऊपर प्रभुत्व करना है जिससे शक्ति पुरुष के ऊपर फिर प्रभाव का विस्तार न कर सके, तो साधना करने से मनुष्य को शक्ति का अधिकारी होना ही पड़ेगा।

साधना करने से साधक शक्ति का अधिकारीहोगा हो।

साधना करने से ही शक्ति होगी। अब देखा जाय उस शक्ति का व्यवहार कैसे करना चाहिए। ब्रह्म का स्वरूप है निगु ण, जहाँ पुरुष और प्रकृति दोनों हैं, किन्तु पुरुष प्रबल है और प्रकृति दुर्बल, जिसके कारण प्रकृति पुरुष के ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती है। निगु णब्रह्म में जब प्रकृति दुर्बल है तो पुरुष इच्छा करने से ही प्रकृति को अपनी इच्छानुसार चला सकता है, अर्थात् उसके ऊपर प्रभुत्व कर सकता है। किन्तु, वह ऐसा नहीं कर सकता है, क्योंकि प्रकृति दुर्बल होने के कारण पुरुष के ऊपर जब अपने प्रभाव का विस्तार नहीं कर सकती है, तो प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व करने की इच्छा पुरुष

को होगी कहाँ से ? ऐसी इच्छा पुरुष को तभी होगी जब प्रकृति उसके ऊपर गुण विस्तार करेगी, अर्थात् पुरुष दुर्बल हो जायगा तभी न प्रकृति उसके ऊपर अपने गुण का विस्तार कर पायगी जिससे प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व करने की उसकी इच्छा जगेगी।

पुरुष किसी भी प्रकार प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व नहीं कर सकता है।

इस तरह देखता हूँ कि प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व करने के लिए पुरुष को प्रकृति के वश में आना पड़ता है। अतएव जो उसके वश में आ जाता है वह उसके ऊपर प्रभुत्व कैसे करेगा ? इससे स्वयं सिद्ध प्रमाण मिलता है कि पुरुष किसी भी प्रकार प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व नहीं कर सकता है। साधना द्वारा अणुपुरूष धीरे धीरे प्रकृति के गुण से मुक्त होता है, अर्थात् प्रकृति धीरे धारे उसके वश में आती है या पुरुष शक्ति पाता है। फिर पुरुष यदि प्रकृति के ऊपर पभुत्व करना चाहे, अर्थात् साधनालब्ध शक्ति का प्रयोग करना चाहे, तो क्या वह इच्छा करके फिर प्रकृति के वश में नहीं आता है ? पुरुष में शक्ति का व्यवहार करने की इच्छा प्रकृति द्वारा जगेगी। अतएव, जब वह शक्ति व्यवहार करने की इच्छा करता है या शक्ति का व्यवहार करता है तब वह अपनी इच्छा से प्रकृति के वश में फिर से आता है। फल-स्वरूप क्या होता है कि साधना द्वारा एक ओर प्रकृति को जीत रहा है और दूसरी ओर प्रकृति के वश में आता है। अतएव,

उसके लिए मुक्ति कहाँ है, अर्थात् वह कैसे प्रकृति के गुण से मुक्त हो सकता है ?

मनुष्य साधन द्वारा प्राप्त शक्ति का व्यवहार क्यों करता है ? केवल लोगों से वाहवाही पाने के लिए वह साधनालब्ध शक्ति का व्यवहार करता है। उसकी ऐश्वरिक शक्ति देखकर लोग उसको श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, उसका सम्मान करेंगे, उसकी भक्ति करेंगे और समझेंगे कि वह एक बहुत बड़ा साधक है। केवल इसीलिए न मनुष्य शक्ति का व्यवहार करते हैं ? लोगों के सम्मान, श्रद्धा या भक्ति की इच्छा और यह दिखाना कि वह एक बहुत बड़ा साधक है, ये सब क्या मान और मद रूपी अविद्या माया नहीं है ? अतएव, साधक जभी इस उद्देश्य से शक्ति का व्यवहार करता है तभी क्या वह अविद्यामाया का आश्रय ग्रहण नहीं करता है ? पहले ही कहा जा चुका है कि अविद्यामाया का आश्रय ग्रहण करने से ही पतन होता है। अतएव, शक्ति का व्यवहार करने से ही अविद्यामाया का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप साधक का पतन होता है।

शक्ति का प्रयोग करने का माने है अविद्यामाया का आश्रय ग्रहण करना जिसके फल स्वरूप पतन होता है।

बहुत लोग सोचते हैं कि साधना द्वारा प्राप्त शक्ति का उपकार के लिए व्यवहार करना उचित है। जैसे, दुःसाध्य रोग

से मुक्त करना इत्यादि। देखिये, इसके पीछे कितनी युक्ति है। रोग या दुख, कष्ट, द्वारा मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता है। पहले ही कहा जा चुका है कि सगुणब्रह्म या भगवान मंगलमय है और उसी मंगलमय के बनाए हुए नियमों के अनुसार ही न मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का फल भोग रहा है। अथात्, कर्मफल भोग रूपी अस्त्र द्वारा भगवान उसके मंगल के लिए ही उसका शिक्षा दे रहा है।

परोपकार के लिए भी साधनालब्ध शक्ति का व्यवहार नहीं किया जा सकता है।

साधनालब्ध शक्ति द्वारा यदि कोई किसी को रोग मुक्त करे या उसका कष्ट भोग दूर करे तो वह क्या उसका मंगल करेगा? कर्मफल भोग कोई मिटा नही सकता है, अतएव साधक अपनी शक्ति द्वारा उसके कर्मफल भोग की शान्ति कैसे कर सकता है? वह अपनी शक्ति द्वारा उस समय उसके भोग को रोक देता है, किन्तु फल भोग जो बाकी रहा वह तो उसीको फिर भोगना पड़ेगा। इसके लिए हो सकता है उसको फिर जन्म लेना पड़े। इस रोग रूपी कर्मफल भोग दंड द्वारा सम्भव है वह मंगलमय की इच्छानुसार अपनी भूल समझ कर फिर कुकर्म न करे और साधना करके मुक्त हो जाय। किन्तु, अज्ञानी साधक ने अपनी शक्ति द्वारा उसको रोग मुक्त करके उसका वह सुअवसर नष्ट कर दिया। ऐसा करके उसने उपकार किया या अपकार?

साधनालब्ध शक्ति का व्यवहार करना क्या खुद के ऊपर

खुदाई या भगवान का अपमान करना नहीं है ? मान लीजिए, साधनालब्ध शक्ति द्वारा साधक नदी के ऊपर से पैदल चला गया या जलती हुई आग के बीच होकर चला गया, किन्तु एक बाल भी उसका जल न सका, या किसी को रोग मुक्त कर दिया, इस तरह से क्या भगवान का अपमान नहीं कर रहा है ? भगवान ने जल को ऐसे गुण से गुणान्वित नहीं किया है जिससे मनुष्य उसके ऊपर से होकर पैदल चला जाय। जलती हुई अग्नि का धर्म ही बनाया है कि उसमें जो वस्तु भी पड़े उसको जलना ही पड़ेगा। रोगी भी रोग भोग कर रहा है उसी के बनाए हुए कर्मफल भोग रूपी विधान द्वारा। अतएव, साधक यदि शक्ति द्वारा यह सब करता है, तो क्या वह ब्रह्म के बनाए हुए नियम को भंग करके उसका अपमान नहीं करता है।

साधनालब्ध शक्ति का व्यवहार करना खुदा के ऊपर खुदाई करना हुआ।

कर्म करने से ही उसका फल भोगना पड़ेगा। साधनालब्ध शक्ति का व्यवहार भी तो एक कर्म ही है। केवल कर्म ही नहीं है, युक्ति द्वारा ऊपर देख चुके हैं कि यह कुकर्म है। इसका भी फल भोगना ही पड़ेगा। कर्म-फल भोग का जब तक न अन्त होता है, यानी मनुष्य जब तक न संस्कार मुक्त होता है प्रकृति उसको कैसे छोड़ेगी या उसकी मुक्ति कैसे होगी ? इस तरह देखता हूँ कि साधना-

साधनालब्ध शक्ति का व्यवहार करना कुकर्म है, अतएव इसके फलस्वरूप कुफल अवश्य ही

भोगना पड़ेगा। लब्ध शक्ति का किसी भी तरह व्यवहार करना उचित नहीं है। इस शक्ति का किसी भी प्रकार व्यवहार करने पर पतन अवश्यम्भावी है। इसलिए साधक को शक्ति का व्यवहार करने की इच्छा से दूर ही रहना चाहिए।

साधना से मुक्ति होती है और साधना है मन को ध्वंस करना। यह साधना कैसे करनी चाहिए जिससे साधक का मन ध्वंस हो जाय या साधक मुक्ति पाय, अर्थात् साधना की पद्धति क्या है? साधना है मन को ध्वंस करना, अतएव इसको ध्वंस करने का निश्चय ही एक कौशल है। इस कौशल को वही सीखा सकता है जो जानता है। इस तरह देखता हूँ कि साधना की पद्धति सीखने के लिए एक ऐसे आदमी की जरूरत पड़ती है जो इस पद्धति को जानता है, अर्थात् साधना की पद्धति सीखने के लिए गुरुकी आवश्यकता होती है। प्रश्न उठता है कि बिना गुरु की सहायता के मुक्ति हो सकती है या नहीं? मान लीजिए, आप को किसी ने हाथ पैर बाँध कर जेल खाना में डाल दिया है, तो आप कैसे मुक्त होंगे? जब तक न दूसरा कोई जेल खाने का दरवाजा खोल कर आप के हाथ पैर का बंधन खोल देता है, आप स्वयं हजार चेष्टा करने पर भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। प्रकृति ने भी मनुष्य को इसी प्रकार हाथ बाँध कर संसार रूपी जेल खाने में कैद कर रक्खा है।

साधना की पद्धति

जब तक न कोई संसार रूपी जेलखाना का दरवाजा खोलकर मनुष्य के हाथ पैर का

सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है।

बंधन खोल देता है, तब तक वह मुक्त कैसे हो सकता है ? इस युक्ति को छोड़कर भी यदि हम अच्छी तरह से विचार करते हैं, तो देखते हैं कि, संसार में कोई भी विद्या या काम मनुष्य अपने से नहीं सीख पाता है। वह किसी न किसी से सुन कर या देख कर ही सीखता है। जिससे वह जो कुछ सीखता है वही उसके उस विद्या का सीखाने वाला गुरु होता है। साधना पद्धति भी एक विद्या है। इसको भी किसी से सीखना होगा, इसलिए बिना गुरु के मुक्ति हो ही नहीं सकती है, अर्थात् मुक्ति हेतु गुरु की आवश्यकता नितान्त है।

मुक्ति हेतु गुरु की आवश्यकता है, किन्तु गुरु कैसा होना चाहिए ? जो स्वयं मुक्त नहीं है वह दूसरे की मुक्ति का हेतु नहीं हो सकता है। एक मनुष्य जिसका हाथ पैर स्वयं बँधा है क्या वह दूसरे के हाथ पैर का बंधन खोल सकता है ? जब तक न वह

एक मात्र मुक्त पुरुष ही गुरु होने के योग्य है।

अपने हाथ पैर का बंधन खोल लेता है तब तक दूसरे का बंधन कैसे खोलेगा ? इसीलिए जो मुक्त नहीं है वह दूसरे की मुक्ति का हेतु हो नहीं सकता है। अतएव, एकमात्र मुक्त पुरुष को छोड़ कर अन्य कोई भी दूसरे की मुक्त का कारण नहीं हो सकता है, अर्थात् गुरु नहीं हो सकता है। इसलिए एकमात्र मुक्त पुरुष ही गुरु होने के योग्य है। मुक्त पुरुष कौन है ? मुक्त पुरुष का माने है प्रकृति के गुण से मुक्त।

एकमात्र निर्गुणब्रह्म ही प्रकृति से मुक्त है, इसलिए वह ही मुक्त पुरुष है। किन्तु, निर्गुणब्रह्म तो मुक्ति का कारण हो नहीं सकता है, क्योंकि वह गुण रहित है। तब मुक्त पुरुष रूपी कौन है? जो साधना द्वारा निर्गुण में पहुँच कर जीव का कल्याण के लिए फिर अपनी इच्छा से एक निश्चित समय के लिए प्रकृति के अधीन में आया है, वही मुक्त पुरुष है अथवा निर्माण चित्त रूपी गुरु है। वह जब तक शरीर धारण करके रहेगा तब तक प्रकृति के अधीन रहेगा, किन्तु देहत्याग के साथ ही साथ कैवल्य मुक्ति पायगा, अर्थात् निर्गुणब्रह्म के साथ मिल जायगा। सगुणब्रह्म या भगवान मुक्त पुरुष है और गुरु भी मुक्त पुरुष है अतएव भगवान और गुरु एक ही वस्तु हैं, अर्थात् भगवान ही गुरु है और गुरु ही भगवान है। जो मनुष्य साधना द्वारा निर्गुणब्रह्म में मिल चुका है, यानी निर्विकल्प समाधि प्राप्त है, उसको पहले सगुणब्रह्म में मिलना पड़ा, यानी उसको सविकल्प समाधि अवश्य हुई है, क्योंकि पहले सवि-कल्प समाधि होती है उसके बाद निर्विकल्प समाधि। जब वे सगुणब्रह्म में मिल चुके हैं तो भगवान छोड़कर और क्या हो सकते हैं? अतएव, गुरु ही साक्षात भगवान है। सगुणब्रह्म मुक्त होकर भी अपने प्रत्येक अणु को अपने ही जैसा मुक्त बनाने के लिए प्रकृति के अधीन आया है, जिसके फलस्वरुप सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सगुणब्रह्म का जब उद्देश्य ही है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त कराना तब उसका जो अणु मुक्त होना

चाहता है उसकी मुक्ति का हेतु वह (सगुणब्रह्म) कैसे होता है ? जो स्वयं ही निराकार है वह मनुष्य को कैसे मुक्ति हेतु सहायता कर सकता है ? अपने अणुपुरुषों को मुक्त कराने के हेतु उसको मनुष्य का रूप लेना पड़ता है । ऐसा न होने से वह मनुष्य को कैसे मुक्त करेगा ? अतएव, जो मनुष्य मुक्त होना चाहता है सगुण ब्रह्म ही गुरु रूप में आकर उसकी मुक्ति का हेतु होना चाहता है अर्थात् उसको मुक्ति पाने में सहायाता देता है । इसीलिए गुरु साक्षात भगवान हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

गुरु ही साक्षात भगवान है ।

मुक्ति पुरुष रूपी गुरु अर्थात् सद्गुरु कहाँ मिलेगा ? उसको क्या वन–पर्वतों में, गुफाओं में ढूँढ़ना पड़ेगा ? सद्गुरु को खोजने के लिए वन–पर्वतों में जाने की जरूरत नहीं है । तब उसको किस तरह पाया जा सकता है ? सगुणब्रह्म की सृष्टि का जब उद्देश्य ही है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त कराना तब उसका जो अणु वास्तव में मुक्त होना चाहेगा उसके पास उसी को न सद्गुरु के रूप में आना पड़ेगा । इसी वास्तव में मुक्त होने की इच्छा का दूसरा नाम है 'समय होना' । जिसका समय नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको वास्तव में मुक्त होने की इच्छा नहीं हुई है उसको कभी भी सद्गुरु का साक्षात्कार नहीं होगा ।

जिसका समय हो गया है, अर्थात् वास्तव में मुक्त होने की इच्छा जिसमें जगी है, वह जहाँ कहीं भी क्यों न हो, सगुणब्रह्म

सद्गुरु पाने के लिये केवल मुक्त

होने की तीव्र आकांक्षा की जरूरत है।

उसके पास सद्गुरु के रूप में अवश्य ही आयगा। ऐसा यदि नहीं हो तो उनकी सृष्टि का उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है और वह (सगुणब्रह्म) जीव के बंधन का कारण हो जाता है। इसीलिए कहता हूँ कि वन, पर्वतों में गुरु खोजने के लिए घूम-घूम कर समय नष्ट करने की कोई जरुरत नहीं है। आवश्यकता है केवल मुक्त होने की उत्कट इच्छा की।

प्रश्न उठता है कि सद्गुरु किस तरह पहचाना जा सकता है ? भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है, इसलिये बहुतेरे ठग, लोगों की धर्मपरायणता का सुयोग लेकर उनको कितना ठगता है इसका कोई हिसाब नहीं है। मुक्ति की इच्छा करनेवाले धर्मपरायण भारतवासी इन्हीं ठगों के पाला में पड़ कर गलत रास्ते पर जाते है और केवल इन्हीं ठगों के कारण भारतवासी आज धर्म में विश्वास खोते जा रहे हैं। अतएव, सद्गुरु है या नहीं इसकी जाँच गुरु करने से पहले ही विशेष रूप से नहीं कर लेने से अन्त में भला के बदले बुरा ही होता है।

अब देखिए, सद्गुरु का क्या लक्षण है ? क्या देख कर अज्ञानी मनुष्य सद्गुरु को पहचान सकेगा ? जिसमें जितनी अधिक अलौकिक शक्ति है या जो जितनी अधिक अलौकिक शक्ति दिखाता है वही क्या सद्गुरु है ? जिसमें जितनी अधिक अलौकिक शक्ति है, यह बात क्यों कहता हूँ ? मुक्त पुरुष सर्व-

शक्तिमान है, किन्तु कोई कैसे यह जान सकेगा यदि वह अपनी अलौकिक शक्ति नहीं दिखाता है। अतएव, जिसमें जितनी अधिक अलौकिक शक्ति है, इस बात से मैं यह समझाना चाहता हूँ कि वह यदि शक्तिशाली अलौकिक शक्ति अलौकिक शक्ति दिखायगा तब न कोई समझेगा कि वह द्वारा सद्गुरु नहीं अत्यधिक अलौकिक शक्तिशाली पुरुष है। पहचाना जाता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अलौकिक शक्ति दिखाने का अर्थ है अविद्या का आश्रय लेना और जो मुक्त है उसका अविद्या कुछ भी नहीं कर सकती है या वह अविद्या का आश्रय नहीं ले सकता है। अतएव, जो अलौकिक शक्ति दिखाता है या अलौकिक शक्ति द्वारा गुरु होने का दावा करता है वह मुक्त पुरुष नहीं है। इसलिए वह दूसरों को मुक्ति नहीं दे सकता है। इस तरह देखा जाता है कि अलौकिक शक्ति द्वारा हम सद्गुरु की जाँच नहीं कर सकते हैं, वरन् जो अलौकिक शक्ति दिखला कर गुरु होने का दावा करता है उसका परित्याग सर्प समान ही करना चाहिए। ऐसा न करने से और भी नीचे जाना पड़ेगा। असत् गुरु होने से शिष्य के पतन का डर क्यों रहता है? गुरु जैसा करेगा या जिस मार्ग पर चलेगा शिष्य को भी उसी मार्ग पर चलना होगा। अर्थात्, गुरु शिष्य का आदर्श होगा, अतएव गुरु यदि अविद्या का आश्रय लेगा तो शिष्य को भी वही करना होगा जिसके फलस्वरूप शिष्य का पतन होगा। इस

तरह देखता हूँ कि अलौकिक शक्ति द्वारा सद्गुरु नहीं पहचाना जा सकता है। तो सद्गुरु का लक्षण क्या है ? मुक्त पुरुष प्रकृति के गुण से मुक्त होकर जीव के कल्याण हेतु केवल शरीर सम्बन्धी व्यापार के लिए प्रकृति के अधीन रहने का संकल्प करके इस जगत् में रहते हैं, इसलिए उनके ऊपर प्रकृति का कोई वश नहीं चलता है। फलस्वरूप अविद्यामाया उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती है। अतएव, जो गुरु अविद्यामाया से मुक्त हैं, अर्थात् काम, क्रोध लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, इत्यादि षट् रिपु और लज्जा भय, घृणा, युगुप्सा, शंका, कुल शील, मान, इत्यादि अष्टपाश से मुक्त हैं, अर्थात् इनके वश में नहीं हैं और शरीर या सांसारिक धर्म पालन के लिये विद्यामाया यानी विवेक और वैराग्य का आश्रय लेकर चलते हैं, वे ही प्रकृत सद्गुरु हैं।

सद्गुरु का लक्षण हैं कि वे अविद्या-माया से मुक्त हैं।

मनुष्य को सद्गुरु से साधना पद्धति सीख कर उसी के अनुसार साधना करके मुक्त होना पड़ेगा। गुरु के ऊपर निर्भर करके पड़े रहने से नहीं होगा, अर्थात् जिस हेतु मैं सद्गुरु का शिष्य हूँ उस हेतु कुछ भी न करने से भी मैं मुक्त हो जाऊंगा यह मनोभाव रखने से और साधना नहीं करने से मुक्त नहीं हो सकता हूँ। सगुणब्रह्म सर्वशक्तिमान होकर भी अपने प्रत्येक अणु को

बिना साधना किए गुरु के भरोसे बैठे रहने से कुछ नहीं होगा।

मुक्त नहीं कर पाता है, इसका कारण सृष्टि रहस्य में अच्छी तरह बताया जा चुका है। वहाँ कहा जा चुका है कि अणु–पुरुष को मुक्त होने के लिए स्वयं ही साधना करनी पड़ेगी। ऐसा नहीं करने से वह मुक्त नहीं हो सकेगा। अतएव, स्वयं साधना नहीं करने से चुपचाप गुरु के ही भरोसे रहने से किसी भी प्रकार मुक्ति नहीं मिल सकती है। गुरु की कृपा होने से कुछ भी करने की जरूरत नहीं है, ऐसा सोच कर कुछ लोग चुपचाप बैठे रहते हैं, किन्तु क्या वे इस कथन का अर्थ गलत नहीं समझ रहे हैं ? गुरु की कृपा बिना गति नहीं है, यह बात सत्य है। किन्तु, गुरु कृपा कब करेंगे, जब आप उनकी कृपा के योग्य पात्र बनेंगे तभी न ? गुरु की दी हुई पद्धति द्वारा यदि आप साधना नहीं करते हैं, तो क्या गुरु का अपमान करना नहीं हुआ ? ऐसी अवस्था में गुरु आप पर कृपा कैसे करेंगे ? गुरु तभी कृपा करेंगे जब आप उनकी कृपा के योग्य पात्र बनेंगे, अर्थात् उनकी दी हुई पद्धति पर श्रद्धा के साथ मन लगाकर चलेंगे। अत–एव, मैं कुछ नहीं करूँगा, मेरे लिए गुरु करेंगे, यह एकदम गलत है। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि यह चूँकी वे सद्गुरु का शिष्य हैं और सद्गुरु पापियों का त्राण करने के लिए आये हैं इसलिए

गुरु की कृपा बिना गति नहीं है।

किन्तु, गुरु तभी कृपा करेंगे जब आप अपनी चेष्टा द्वारा कृपा का पात्र अपने को बनायेंगे।

कुछ न करने पर भी सद्गुरु जाने के समय उन्हें अपने साथ ही ले जायेंगे। जैसे, गायें मैदान में इधर-उधर चरती फिरती हैं, किन्तु साँझ समय चरवाहा सभी गायों को खोजकर जमा करके एक साथ ले जाता है। यह तुलनात्मक उदाहरण क्या सत्य है ? चरवाहा गाय चराता है, किन्तु सद्गुरु तो मनुष्य चराने के लिये नहीं आते हैं। वे आते हैं मनुष्य को मुक्ति देने के लिए, अर्थात् मनुष्य को भगवान बनाने के लिए, मनुष्य को गाय के ऐसा चरा कर उन सबों को साथ में लाकर गौवों के ऐसा गोहाल में बन्द करके स्वयं घर में जाकर सोने के लिए तो वे नहीं आते हैं। वे आते हैं मनुष्य को अपने ही समान मुक्त करने के लिए। इस तुलनात्मक उदाहरण के ऊपर निर्भर करके चुपचाप बैठे रहने से मनुष्य मनुष्य ही रह जायगा, भगवान नहीं बन सकेगा, जिस तरह गाय गाय ही रह जाती है और चरवाहा संध्या समय उन सबों को लेकर गोहाल में बन्द करके स्वयं अपने घर जाकर आराम से सो जाता है। इसलिए बिना साधना किए गुरु के भरोसे बैठे रहने से मुक्ति नहीं मिल सकती है।

मुक्ति के लिए साधना आरम्भ करते ही आपत्तियां आने लगती हैं, फलस्वरूप साधक की साधना में विघ्न शुरू हो जाता है। ऐसा क्यों होता है, क्या भगवान की ऐसी इच्छा नहीं है कि साधक साधना करके मुक्त हो जाय? साधक की साधना अगर है, तो वह साधक को क्यों विपत्तियों के

में बाधा आयगी ही।

गढ़े में ढकेलता है और साधना में विघ्न डालता है? साधक विपत्तियों से घिर जाय या उसकी साधना में विघ्न हो ऐसी इच्छा न भगवान की रहती है न गुरु की। भगवान की सृष्टि रचना का उद्देश्य ही है अपने प्रत्येक अणु को मुक्त कराना। अतएव जब ब्रह्म ही चाहता है कि साधक साधना करके मुक्त हो तो फिर वह स्वयं ही बाधाओं की सृष्टि किस प्रकार करता है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही सद्गुरु रूप में आकर साधकगण को मुक्त होने का उपाय बताता है। जब भगवान या गुरु की इच्छा नहीं होती है कि उसके साधक की साधना में विघ्न-बाधा आवे तो फिर विपत्तियाँ किस प्रकार आकर बाधाओं की सृष्टि करती हैं? साधक साधना करके मुक्त होना चाहता है। प्रकृति के गुण द्वारा ही उसके मन की सृष्टि हुई है और इस मन को साधक ने अपने जन्म जन्मान्तर के कर्मों द्वारा विकृत करके रक्खा है। अतएव, मन को स्वाभाविक अवस्था में लाने के बाद ही उसको प्रकृति के गुण से मुक्त किया जा सकेगा।

और ये बाधाएं उसके कर्मों के ही फल भोग हैं।

मन का स्वाभाविक अवस्था में आने का माने है कर्मफल भोगना। अतः जन्म-जन्मान्तरों के किए हुए कर्म का बाकी फल भोगे बिना वह कैसे मुक्ति पायगा? उसके कर्मों का फल दूसरा कौन भोगेगा? कर्म करने से फल भोगना ही पड़ेगा। प्रकृति का यही नियम है, इसलिए जन्म-जन्मान्तर के

किए हुए कर्मों का शेष फल भोग समाप्त न होने तक मुक्ति नहीं मिल सकती है। साधारण मनुष्य अपने कर्मों का फल साधारण रूप से ही भोगता है। इस जन्म में यदि उसका भोगना शेष नहीं होता है, तो फिर पुनर्जन्म लेकर उसको भोगना पड़ेगा। मुक्ति की कामना करने वाले साधक नहीं चाहते हैं कि उन्हें अपने कर्मों का फल भोग करने के लिए फिर दूसरा जन्म लेना पड़े। अतएव, अपने बचे हुए कर्मफल भोग को भोगने में वह शीघ्रता करता है, क्योंकि इसी जन्म में उसे अपने सभी कर्म फलों को भोग कर उसका अन्त कर देना है। अतएव, विपत्ति आने से साधक को आनन्द ही मानना चाहिए, यह सोच कर कि साधना सफल हो रही है इसीलिए कर्म-फलों की मुक्ति शीघ्रता से हो रही है।

अतएव, बाधाओं के उपस्थित होने पर साधक को प्रसन्न होना चाहिए।

साधना का अर्थ है प्रकृति के गुण से मुक्त होना। अविद्यामाया प्रकृति का ही गुण है, अतएव अविद्यामाया को भी हटाना होगा। मान लो, तुम्हारे घर में एक दुष्ट मनुष्य बहुत दिनों से से दखल जमा कर बैठा हुआ है। यदि तुम जबर्दस्ती बलपूर्वक अचानक उसे भगाने जाओ तो क्या तुम्हारी एक ही बात सुनने से वह घर छोड़ कर चला जायगा? इतने दिनों से कुछ नहीं कहा, वरन् तुमने उसे किरायादार समझ कर उसका सत्कार ही किया है, तो

साधना करने से अविद्यामाया दूर होगी।

अब वह तुम्हारी एक ही बात सुनकर भला किस तरह घर खाली कर देगा ? क्या वह दुष्ट मनुष्य ऐसी कोशिश नहीं करेगा कि वह उसी मकान में रह जाय ? उसे भगा कर तुम्हें अपना घर दखल करने में बहुत कष्ट होगा, क्योंकि वह बाधाओं की सृष्टि करेगा जिससे तुम घर दखल करने में समर्थ नहीं हो सको। इन्हीं बाधाओं के ऊपर जब तुम विजय प्राप्त कर लोगे तभी तुम उसे भगा सकोगे। यदि अविद्या-माया जन्म–जन्मान्तर से तुम्हारा आश्रय लेकर है और इतने दिनों से तुम ने उसे कुछ नहीं कहा, वरन् हमेशा उसे प्रोत्साहन ही दिया है और साधना का समय आ जाने पर अचानक उसे तुम कहो कि मेरा आसरा छोड़ दो, तो क्या वह इसी प्रकार आसानी से तुम्हें छोड़ देगी ? क्या वह किरायेदार के ऐसा कोशिश नहीं करेगी जिससे तुम उसे अपने आश्रय से निकाल नहीं सको। वह तो नाना प्रकार की बाधाओं की सृष्टि करेगी जिससे तुम उसे हटा नहीं सको। सद्गुरु की दी हुई साधना अविद्यामाया को दूर करने की पद्धति है।

वह अविद्यामाया नाना प्रकार की बाधाओंकी सृष्टि करती है, जिसमें आप साधना नहीं कर सकें।

यदि तुम साधना में विजयी होते हो तो अविद्यामाया को तुम्हारा आश्रय छोड़ना ही पड़ेगा। इसीलिये सच्ची साधना शुरू करते ही अविद्यामाया का जोर और भी बढ़ जाता है और वह नाना प्रकार से कष्ट देने लगती है जिससे

तुम्हारी साधना हो ही नहीं सके, क्योंकि साधना किए बिना तो तुम उससे छुटकारा पा नहीं सकते हो। यह अविद्यामाया तुम्हारी ही कुशक्ति है। साधना शुरू करते ही तुम्हारी यह कुशक्ति नाना तरह से तुम्हें बाधा देगी जिससे तुम साधना नहीं कर सको और साधना में तब तक तुम्हें विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ेगा जब तक न यह अविद्यामाया तुम्हारा साथ छोड़ती है। देखा जाता है कि अविद्यामाया को दूर हटाने का प्रयत्न करने से ही अविद्यामाया बाधा उपस्थित करती है। अतएव, साधना में बाधाओं के आने का अर्थ ही है कि अविद्यामाया दूर हटने लगी है, इसीलिए वह बाधा उपस्थित करती है। बाधा भगवान या सद्गुरु नहीं देते हैं, क्योंकि उनकी तो इच्छा ही है कि उनके शरीर से उत्पन्न अणु-पुरुष साधना द्वारा उन्हीं जैसा मुक्त पुरुष बन जाय। बाधा तो प्रकृति देती है जिसको युद्ध में परास्त करके तुम मुक्त होना चाहते हो। साधना का अर्थ है अविद्यामाया के साथ युद्ध। अतएव, तुम जिस प्रकार साधना रूपी अस्त्र लेकर उससे लड़ाई करते हो वैसे ही वह भी बाधारूपी अस्त्र द्वारा लड़ती है।

साधना में बाधा उपस्थित होना सुलक्षण है।

इसलिए साधना में विघ्न उपस्थित होना सुलक्षण छोड़कर और क्या कहा जा सकता है? बाधा तभी आयगीं जब अविद्यामाया को भगाने की व्यवस्था ठीक होगी। इसलिए बाधाओं के आने से ही समझना चाहिए कि अविद्यामाया दूर हटने लगी

है। इसीलिए वह बाधाओं की सृष्टि करती है जिससे साधना रूपी अस्त्र का प्रहार उसके ऊपर नहीं हो पाय।

अब देखना चाहिए साधना का अधिकारी कौन है। सगुणब्रह्म ने अपने प्रत्येक अणु को अपने समान ही मुक्त करने के उद्देश्य से सृष्टि की रचना कर प्रत्येक अणु को मनुष्य में लाकर व्यापक रूप से विकशित किया है जिससे उसका प्रत्येक अणु साधना करके मुक्त हो जाय। फलस्वरूप, मनुष्य ने व्यापक रूप से विकशित चैतन्य पाया। मनुष्य में अणुचैतन्य व्यापक रूप से विकशित है, इसलिए मनुष्य भला बुरा का निर्णय कर सकता है और साधना करके मुक्त हो सकता है। इस पृथ्वी पर एकमात्र मनुष्य को छोड़कर और किसी भी जीव में उसका अणुचैतन्य व्यापक रूप से विकशित नहीं होता है, इसलिए इस पृथ्वी पर मनुष्य को छोड़ कर और कोई भी जीव साधना करके मुक्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य में जब अणुचैतन्य का विकाश व्यापक रूप से है तो प्रत्येक मनुष्य साधना करके मुक्त हो सकता है अर्थात् सभी मनुष्य साधना का अधिकारी है। साफ-साफ शब्दों में मनुष्यमात्र ही, या जीव मनुष्य का शरीर पाते ही साधना का अधिकारी होता है।

जीव मनुष्य का शरीर पाते ही साधना का अधिकारी होता है।

जब प्रत्येक मनुष्य साधना का अधिकारी है तो प्रश्न उठता है कि सगुणब्रह्म सद्गुरु रूप में आकर सब को साधना

का पथ बताकर मुक्त क्यों नहीं करते हैं ?' कहा जा चुका है कि मुक्त होने की वास्तविक इच्छा या समय न होने से सगुणब्रह्म गुरुरूप में नहीं आते हैं. इसलिए मनुष्यमात्र साधना का अधिकारी होने पर भी वास्तव में वह अधिकारी नहीं है। वही मनुष्य साधना का वास्तव में अधिकारी है जिसमें मुक्त होने की सच्ची इच्छा जगी है और वही मनुष्य सद्गुरु का पता पाता है।

किन्तु, मनुष्य में वही साधना का वास्तविक अधिकारी है जिसमें मुक्त होने की सच्ची इच्छा जगी है।

मनुष्य का अणुचैतन्य व्यापक भाव से विकशित है इसी लिए वह सु और कु का अन्तर समझ कर उसी भाव से काम करता है। मुक्त होने की इच्छा सुकर्म है, लेकिन ऐसी इच्छा करना पूर्ण रूप से मनुष्य के ही ऊपर निर्भर करता है। अतएव, कहना पड़ता है कि साधना का सच्चा अधिकारी बनना मनुष्य के अपने ही ऊपर निर्भर करता है। इसलिए सद्गुरु सच्चा अधिकारी को साधना का पथ बता कर पक्षपात नहीं करते हैं. क्योंकि सच्चा अधिकारी होना और न होना मनुष्य की अपनी ही इच्छा पर निर्भर करता है कारण कि उसमें चैतन्य का विकाश व्यापक रूप से है। सगुणब्रह्म की तो इच्छा

मुक्ति हेतु सची इच्छा जगाना मनुष्य के अपने ही ऊपर निर्भर करता है।

ही है कि उसका प्रत्येक मनुष्य मुक्त हो, अतएव वह सब के समाने सद्‌गुरु बन कर नहीं आता है ऐसा कह कर उस पर पक्षपात का दोषारोपन किसी भी हालत से नहीं किया जा सकता है। दोष सब मनुष्य का ही है, क्योंकि मुक्त होने के लिये वह सच्ची इच्छा अपने में पैदा नहीं कर सकता है। भगवान का इसमें दोष क्या है ? तो देखते हैं कि साधना के लिए सच्ची इच्छा जगाना या साधना का असल अधिकारी बनना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य या धर्म है, क्योंकि यही तो भगवान की इच्छा है जिसके लिए उन्होंने इस विराट् सृष्टि की रचना की है।

पहले ही युक्ति द्वारा हमलोग देख चुके हैं कि सगुणब्रह्म का मनुष्य की सृष्टि करने का उद्देश्य ही है कि मनुष्य साधना करके मुक्त बने। अतएव, मनुष्य का धर्म ही है साधना करके मुक्त होना। जो मनुष्य साधना करके मुक्त होना नहीं चाहता है या साधना नहीं करता है वह क्या भगवान के इच्छा के विरुद्ध नहीं जाता है या अधर्म नहीं करता है ? भगवान की बनाई प्रत्येक वस्तु अपना-अपना धर्म ठीक तरह से मान कर चलती है, केवल एकमात्र मनुष्य ही नहीं मानता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपना कर्मफल भोग रूपी दंड पाता है। अतएव, कर्म फल भोग रूपी दंड नहीं भोगने के लिए

साधना नहीं करना अधर्म है।

मनुष्य को अपना धर्म पालन करना चाहिए, अर्थात् साधना करके मुक्त होना चाहिए।

देखें साधना की आवश्यकता है या नहीं। कहा जा चुका है कि सगुणब्रह्म का उद्देश्य ही है कि वह स्वयं जिस तरह व्यापक रूप से मुक्त है उसी तरह उससे उत्पन्न प्रत्येक अणु भी मुक्त बने और इसी उद्देश्य से उन्होंने इस विराट् जगत् की सृष्टि की है। जब सृष्टि रचना का उद्देश्य ही है प्रत्येक अणु को मुक्त बनना, तो उसकी इच्छानुसार उसके प्रत्येक अणुपुरुष को एक न एक दिन मुक्त होना पड़ेगा, चाहे आज या अनन्त काल के बाद ही। पहले ही हम युक्ति द्वारा देख चुके हैं कि मुक्ति पाने के लिए साधना करना ही पड़ेगा। अतएव, प्रत्येक अणुपुरुष को जब एक न एक दिन साधना करके मुक्त होना ही पड़ेगा, तो जितना शीघ्र हो सके उनको प्राप्त करना क्या बुद्धिमानी का काम नही है? जब जानते हैं कि यह हमारे रहने की जगह नहीं है या यहाँ रहने के लिए हम नहीं आए हैं, तो यहाँ रह कर दुख क्यों भोगेंगे? जहाँ मुझे रहने का अधिकार नहीं है वहाँ रहने से ही तो दुख और कष्ट भोगना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ मैं बिना अधिकार का रह रहा हूँ। इसलिए जहाँ मुझे रहने का अधिकार है और जिस लिए मुझ को उत्पन्न किया गया है और जहाँ मुझको जाना ही पड़ेगा, चाहे आज हो या अनन्त-

साधना प्रत्येक मनुष्य का एक-मात्र कर्त्तव्य है।

के बाद हो, वहां शीघ्र ही चला जाना क्या बुद्धिमानी का काम नहीं है ? प्रत्येक अणुपुरुष को जब साधना करके एक न एक दिन मक्त होना ही पड़ेगा तो उसको शीघ्र प्राप्त करना बुद्धिमानी का काम है। अतएव, देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के लिए साधना नितान्त आवश्यक कर्त्तव्य है।

९

मनुष्य साधना से क्यों भयभीत होता है ?

साधना सभी को करना होगा किन्तु सभी क्यों नहीं करते हैं ? साधारणतः मनुष्य भयभीत होकर ही साधना नहीं करता है। अब देखिए मनुष्य किन-किन कारणों से साधना से डरता है और उसको भय कितना युक्तिसंगत है।

पहले मनुष्य सोचता है कि मुक्ति हेतु साधना करने से ही संसार छोड़ कर सन्यास लेना होगा, क्योंकि संसार में रहकर साधना नहीं हो सकता है। उनके मतानुसार मुक्ति केवल गृहत्यागी सन्यासी के लिए ही है, संसारी उसको नहीं पा सकते हैं। तो देखिए साधना करने से संसार छोड़ कर चला जाना होगा या संसारी भी साधना करके मुक्ति पा सकता है। पहले देखा जाय संसार त्यागी साधु सन्यासी को क्या सुविधा मिलती है। वे लोग वन-पर्वतों में रहने के कारण जन-समुदाय से दूर रहते हैं, फलतः साधना में सुविधा होती है और संसार छोड़ कर चले जाने के कारण संसार के प्रलोभन और झंझटों से दूर रहते हैं जिससे अविद्यामाया को जीतने में सुविधा होती है। केवल इन्हीं दो सुविधाओं के लिए लोग संसार छोड़कर

साधना के लिए सन्यास लेने की जरूरत नहीं है।

साधना करने के लिये चले आते हैं। अब देखिए दोनों सुविधायें कहाँ तक सत्य हैं। साधना में हल्ला-गुल्ला होने से बाधा होती है, इसलिये निर्जन अत्यावश्यक है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कह चुके हैं कि साधना में बाधा पैदा करती है अविद्यामाया। संसार छोड़ने से ही तो अविद्या-माया नहीं छूट जाती है, वह तो साथ ही जायगी और उसका जो काम है, बाधा पैदा करना, भी करेगी ही। वन-पर्वतों में मनुष्य नहीं रहते हैं यह सच है, किन्तु साधना के समय हल्ला-गुल्ला क्या पशु-पक्षी नहीं कर सकते हैं? अविद्यामाया पशु-पक्षी के रूप में आकर साधना में बाधा देगी। अतएव, जंगल-पहाड़ में भी साधना के समय निर्जनता नहीं मिलती है अविद्यामाया के कारण। मनुष्य जिस तरह की वातावरण में रहता है उसी तरह की वातावरण का वह अभ्यस्त हो जाता है। यह स्वभाविक है। जैसे, एक निर्जन ग्रामीण को यदि कलकत्ता में चौरंगी के चौराहे पर एक घर में सोने को कहा जाय तो ट्राम, बस, और लोगों के हल्ला-गुल्ला के कारण उसको नीन्द नहीं आएगी, किन्तु वहाँ के रहने वालों को उसी हल्ला-गुल्ला में अच्छी तरह नीन्द पड़ती है, थोड़ी-सी भी असुविधा मालूम नहीं पड़ती है। उसी तरह कलकत्ता में रहनेवाला एक व्यक्ति को यदि किसी दिन एक निर्जन गाँव में रात भर रहना पड़े तो उसको वह निर्जनता एकदम पसन्द नहीं पड़ेगी। भय के कारण रात भर उसको नीन्द नहीं आयगी। ठीक इसी

प्रकार साधकों को हल्ला-गुल्ला के बीच में साधना करने में पहले असुविधा होगी, किन्तु जब वह स्वभाविक हो जायगा तो कुछ भी असुविधा नहीं होगी। इसलिये निर्जनता के लिए जंगल में जाना युक्तिसंगत नहीं है। अब देखिए प्रलोभनों से दूर रहने के लिए जङ्गल में जाना कहाँ तक युक्तिसंगत है। प्रलोभन या लोभ एक अविद्यामाया है। इसलिये साधना द्वारा अविद्यामाया जितनी दूर हटेगी लोभ भी उतना ही कम होगा, क्योंकि लोभ कम करने का अर्थ है अविद्यामाया को कम करना अतएव, साधना द्वारा जब तक न अविद्यामाया का प्रभाव कम होता है तब तक लोभ हटेगा कैसे ? जङ्गल में जाने से अविद्यामाया का प्रभाव तो कम न होगा, इसलिए लोभ भी नहीं घटेगा। लोभ तभी घटेगा जब साधना द्वारा अविद्या-माया का प्रभाव घट जायगा। प्रलोभन की वस्तु समीप होने से लोभ अधिक होता है और उसको पाने की इच्छा होती है यह बात सच है, किन्तु पास में नहीं रहने के कारण व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है जिससे मन धीरे-धीरे उस वस्तु का लोभ त्याग देता है। किन्तु जबर्दस्ती जब मन को किसी वस्तु से दूर हटाते हैं तो उससे क्या मन में कष्ट नहीं होता है ? मन में खूब कष्ट होता है और जो उसको सह नहीं सकता है वह अस्वस्थ हो जाता है या उसका अधःपतन होता है। तो क्या केवल लोभ की वस्तु से दूर रहने के लिये संसार छोड़कर चला जाना ठीक है ? लोभ की वस्तु से दूर रहने से मानसिक कष्ट

होता है और पतन का भी भय रहता है। अतएव, मन को दृढ़ न करके केवल थोड़ी सी सुविधा के लिए, जिससे पतन का भी भय है, संसार छोड़ देना क्या कोई काम की बात है? प्रलोभनों के बीच रहकर उसको धीरे-धीरे जीतना वीर का काम है न कि उसके भय से दूर भागना। साधना है अविद्या के साथ युद्ध करना। सामने युद्ध करना अच्छा है न कि उससे दूर भाग कर उसकी खुशामद करना। इस तरह देखते हैं कि प्रलोभन के भय से संसार त्याग करने के पीछे कोई दृढ़ युक्ति नहीं है। देखिए, संसार की झंझटों से दूर रहने के लिये वन पर्वतों में जाने के पीछे कैसी युक्ति है? संसार में रहने से ही झंझट है, क्योंकि अपने को और दूसरों को, जो मुझ पर निर्भर करते हैं, खिलाकर रहना होगा। इसके लिए रुपया-पैसा कमाना होगा। यदि कम रुपया कमाते हैं तो दरिद्रता की यंत्रणा है और इसके अलावे रोग, मोग इत्यादि नाना प्रकार के कष्ट हैं। संसार यदि छोड़ दिया जाय तो केवल हम और हमारी लंगोटी रह जाती है, इसलिए झंझट कम हो जाता है। एक पेट किसी भी प्रकार भर कर साधना ठीक तरह से करने में बनेगा। इसी विचार से मनुष्य संसार छोड़कर बाधाओं से दूर भागता है। जो इस विचार से संसार छोड़ कर भागता है वह क्या स्वार्थी नहीं है? जिनका भार उस पर है उनके प्रति वह क्या कर्त्तव्यच्युत नहीं होता है? कर्त्तव्यच्युत होने का अर्थ है कुकर्म करना, अतएव इसका फल भी तो उसी

को भोगना पड़ेगा और जब तक न इस भोग का अन्त होता है तब तक उसको मुक्ति कहाँ मिलेगी ! संसार का झंझट छोड़ कर जो दूर भागते हैं उनका मन क्या संसार में स्त्री, पुत्र इत्यादि के ऊपर नहीं रहता है ? अवश्य ही रहता है, क्योंकि स्त्री, पुत्र के ऊपर मन रहने का अर्थ है मोह रिपु के बंधन में रहना जो अविद्यामाया का प्रभाव है। जब तक न इस अविद्यामाया का प्रभाव दूर होता है तब तक मन स्त्री, पुत्र आत्मीय स्वजन पर रहेगा ही। ऐसी हालत में वह साधना में कैसे आगे बढ़ेगा ? जंगल में जाकर आत्मीय स्वजन की चिन्ता करेगा या साधना करेगा ? फिर यदि यह कहा जाय कि जो संसार छोड़ देते हैं उनका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता है, तो कहना पड़ता है कि उन्होंने अविद्या को जीत लिया है। अविद्या यदि दूर हो जाय तो उसके लिए जैसा संसार है वैसा जंगल क्योंकि अविद्या को जीतने के लिए ही न वह संसार छोड़ कर जंगल में जाता है। लंगोटी लेकर भागने से पेट तो उसका साथ नहीं छोड़ देगा ? उसको भोजन की जरूरत पड़ेगी ही। जब वे अकेला हैं तो भिक्षा माँगकर जो लाते हैं उसको आप ही पका कर खाना होगा। अतएव, इसमें भी समय नष्ट होगा जिससे साधना में बाधा होगी। फिर यदि शरीर अस्वस्थ हो जाय तो उसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं रहता है और ऐसे अवसर पर मन को अधिक कष्ट होता है। इसलिये जंगल में भी जाकर झंझट से छुटकारा पाने का उपाय

नहीं है। जब देखते हैं कि जंगल में जाना है केवल प्रलोभनों से दूर रहने के लिये और वहाँ जाने से आत्मीय स्वजनों के प्रति कर्त्तव्य से च्युत होते हैं तथा झंझट एकदम दूर नहीं हटाया जा सकता है, तो संसार छोड़कर साधना करने के लिए जंगल में जाना युक्तिसंगत कहाँ है ?

साधना है अविद्या के साथ युद्ध करना। यह युद्ध किस प्रकार करना होगा ? कहा जा चुका है कि मन जितना अधिक स्थूल से सूक्ष्म की ओर जायगा अविद्या धीरे धीरे उतना ही कम होगा। इसलिए मन जब तक न सूक्ष्म की ओर जाता है तब तक अविद्या से भागने से उससे छुटकारा नहीं मिलेगा। मान लीजिए आपके घाव पर मक्खी बैठी है। आप यदि घाव छूटने का उपाय न करके मक्खी को भगाते रहें, तो क्या घाव पर मक्खी का बैठना बन्द हो जायगा ? मक्खी को बार बार उड़ाते रहने की चेष्टा अच्छी है, न घाव छूटने का उपाय करना अच्छा है ? घाव छूट जाने से तो मक्खी फिर नहीं बैठेगी, इसलिए घाव छूटने का उपाय करना ही अच्छा है। सद्‌गुरु द्वारा दी गई साधना पद्धति घाव से छुटकारा पाने की औषधि है, अर्थात् अविद्या को दूर भगा कर मुक्त होने की पद्धति है। अतएव, सद्‌गुरु दत्त पद्धति जहाँ कहीं भी किया मुक्ति निश्चित है। अविद्या दूर होने से साधना में बाधा विघ्न नहीं होगा और संसार का प्रलोभन संसार में रह कर तथा झंझट तंग नहीं करेंगे। सद्‌गुरु दत्त

ही श्रेष्ठ साधक या मुक्त पुरुष बन सकता है या मुक्ति लाभ कर सकता है।

पद्धति ही जब अविद्या को दूर कर मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है, तो संसार में रहकर उसको करने में क्या सुविधा नहीं है? अविद्यामाया पहले तंग करेगी, किन्तु बाद में जब वह परास्त हो जायगी तब तो वह तंग नहीं कर सकेगी। संसारी को संसार त्यागी से अधिक सुविधा है, इसलिए संसार में रहकर साधना करना सबसे सुविधापूर्ण है और वीरत्व का काम है, साथ ही साथ निरापद भी है। एक और बड़ी सुविधा है कि संसार में रहकर आप लोक सेवा कर सकेंगे जो साधना का ही एक अंग है। किन्तु, जंगल में जाकर किसकी सेवा करेंगे—पेड़ पौधे की? साधना है सद्गुरु द्वारा दी हुई पद्धति को श्रद्धा के साथ करना। संसार में रहकर केवल साधना के लिए समय निकाल लेने से ही काम हो जाता है, जंगल जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ठीक तरह से साधना करने पर कहीं भी जाने की जरूरत नहीं पड़ती है, संसार में ही रहकर श्रेष्ठ साधक बन सकते हैं या मुक्ति पा सकते हैं। इसलिए साधना के लिए संसार त्याग करने की कोई जरूरत नहीं है। साधना संसार में ही किया जा सकता है। प्रकृति के साथ युद्ध करके उसको हरा कर मुक्त होना ही साधना है। इस युद्ध या साधना की पद्धति सद्गुरु बताते हैं, अतएव सद्गुरु की बताई

ही श्रेष्ठ साधक या मुक्त पुरुष बन सकता है या मुक्ति लाभ कर सकता है।

पद्धति ही जब अविद्या को दूर कर मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है, तो संसार में रहकर उसको करने में क्या सुविधा नहीं है ? अविद्यामाया पहले तंग करेगी, किन्तु बाद में जब वह परास्त हो जायगी तब तो वह तंग नहीं कर सकेगी। संसारी को संसार त्यागी से अधिक सुविधा है, इसलिए संसार में रहकर साधना करना सबसे सुविधापूर्ण है और वीरत्व का काम है, साथ ही साथ निरापद भी है। एक और बड़ी सुविधा है कि संसार में रहकर आप लोक सेवा कर सकेंगे जो साधना का ही एक अंग है। किन्तु, जंगल में जाकर किसकी सेवा करेंगे—पेड़ पौधे की ? साधना है सद्गुरु द्वारा दी हुई पद्धति को श्रद्धा के साथ करना। संसार में रहकर केवल साधना के लिए समय निकाल लेने से ही काम हो जाता है, जंगल जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ठीक तरह से साधना करने पर कहीं भी जाने की जरूरत नहीं पड़ती है, संसार में ही रहकर श्रेष्ठ साधक बन सकते हैं या मुक्ति पा सकते हैं। इसलिए साधना के लिए संसार त्याग करने की कोई जरूरत नहीं है। साधना संसार में ही किया जा सकता है। प्रकृति के साथ युद्ध करके उसको हरा कर मुक्त होना ही साधना है। इस युद्ध या साधना की पद्धति सद्गुरु बताते हैं, अतएव सद्गुरु की बताई

साधना करने से स्त्री का साथ छोड़ना होगा, क्योंकि ब्रह्मचर्य पालन नहीं करने से साधन नहीं किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य का क्या माने है या ब्रह्मचारी कौन है? ब्रह्मचर्य का माने है मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके मन को ब्रह्म में रत रखना। 'बहिर्मुखी वृत्तियाँ क्या हैं और उनको अन्तर्मुखी करना क्या है? प्रकृति के प्रभाव से सृष्टि का सूक्ष्म से स्थूल विकाश होता है। कहा जा चुका है कि स्थूल जगत् बहिर्जगत् है और सूक्ष्म जगत् मन है। प्रकृति का प्रभाव जितना अधिक पड़ता है मन अर्थात् सूक्ष्म जगत् उतना ही स्थूल में परिणत होता रहता है। इसलिए बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का माने है मन को स्थूल से सूक्ष्म में लाना या उसको प्रकृति के प्रभाव से मुक्त करना। ब्रह्म स्वरूपतः सूक्ष्म है, इसलिए मन स्थूल में रहने से ब्रह्म में कैसे रत रहेगा या विचरण करेगा? अतएव, मन को स्थूल से हटा कर सूक्ष्म में ले जाने का माने है ब्रह्म में रत रहना, अर्थात् मन जितना ही प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होगा उतना ही वह सूक्ष्म की ओर जायगा या ब्रह्म में लीन रहेगा। अतएव, ब्रह्मचर्य का माने है मन को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त करना और ब्रह्मचारी का माने है ब्रह्म में विचरण करनेवाला या जिनका मन स्थूल जगत् में नहीं है, सर्वदा सूक्ष्म जगत्

ब्रह्मचर्य है मन को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त करना और ब्रह्म-चारी वह है जो ब्रह्म में विचरण करता है।

या ब्रह्म में विचरण करता है। यह तो साधना का फल है, अर्थात् साधना करके ही ब्रह्मचारी हो सकेंगे। साधना करके ही प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होकर मन को सूक्ष्म में ले जा सकेंगे या ब्रह्म में मिलायेंगे। ब्रह्मचर्य जब साधना का फल है, तो साधना नहीं करने से लोग उसकी आशा कैसे करते हैं? यह क्या बिना काम किए फल प्राप्त करने की इच्छा के समान नहीं है। साधारणतः मनुष्य कामरिपु को वश में करना ही ब्रह्मचर्य पालन करना समझता है, किन्तु वहिर्मुखी वृत्तियाँ तो षट्रिपु और अष्टपाश हैं अतएव केवल कामरिपु को जीतने से ही ब्रह्मचर्य पालन नहीं किया जा सकता है। सभी रिपु और पाश अर्थात् अविद्यामाया से मुक्त होने से ही मन ब्रह्मचारी हो सकता है। षट्रिपु और अष्टपाश के वश में कौन चलता है? इनके वश में मन चलता है, अर्थात् अविद्यामाया के प्रभाव से चालित होकर मन ब्रह्मचारी नहीं हो पाता है, इसलिये साधना द्वारा अविद्यामाया को दूर करके मन को ब्रह्मचारी बनाना पड़ेगा। तो देखते हैं कि ब्रह्मचर्य साधना का फल है, और जब यह साधना का फल है, तो बिना साधना किये इसको पाने की आशा कैसे करते हैं।

ब्रह्मचर्य साधना का फल है।

क्या यह भूल या अज्ञानता नहीं है? अविद्या का प्रभाव इतना अधिक है कि बिना साधना किए उसको किसी तरह भी दूर नहीं किया जा सकता है। इसलिये जो मनुष्य बिना साधन किये

उसको दूर करना चाहता है वह वृथा समय नष्ट करता है। साधना करते रहने से इसके प्रभाव से मन सूक्ष्म की ओर आप से आप जाता रहेगा और मनुष्य ब्रह्मचारी बनता रहेगा, अर्थात् धीरे-धीरे उसके रिपु और पाश सभी आप से आप कम होते रहेंगे। इनके हट जाने से मन स्थूल में फिर नहीं फँसा रहेगा। अतएव, साधना के लिए स्त्री संग त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि काम और मोह रिपु के कारण ही स्त्री संग करते हैं। साधना द्वारा काम और मोहरिपु के विजित होने पर स्त्री संग की आवश्यकता नहीं रहेगी। काम और मोहरिपु के कारण मन स्त्री संग चाहता है। इनके चले जाने से स्त्री संग अच्छा नहीं लगेगा। अतएव साधना के लिये स्त्री का परित्याग करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। कहा जा चुका है कि साधना प्रकृति के साथ युद्ध करके उसको हराना है। जो शक्तिशाली होगा युद्ध में वही जीतेगा। मनुष्य साधना करके मुक्त होता है, अर्थात् प्रकृति को जीतता है, क्योंकि प्रकृति को जीत कर ही तो मुक्त होता है। इससे यह कहा जा सकता है कि प्रकृति से साधना शक्ति निश्चय ही अधिक है, क्योंकि साधना की शक्ति अगर अधिक नहीं होती तो साधना द्वारा मनुष्य प्रकृति को कैसे जीत सकता ? जब प्रकृति से साधना की शक्ति अधिक है, तो साधना द्वारा मनुष्य ब्रह्मचारी बन सकता है, अर्थात् अविद्यामाया कितना भी प्रबल क्यों न हो उसको दूर भगाया जा सकता है।

अतएव, ब्रह्मचारी बनने के लिये साधना करना होगा।

अतएव, ब्रह्मचारी होने के लिए साधना की जरूरत है, स्त्री संग छोड़ने की जरूरत नहीं है। लौकिक अर्थ में ब्रह्मचर्य कहने से जो जान पड़ता है, अर्थात् वीर्य धारण करना, उस पर भी ध्यान देने की जरूरत है. क्योंकि शुक्र-धातु वीर्य मनुष्य के स्नायुकोष (Nerve cell) तथा स्नायु तन्तु (Nerve fibres) का भोजन है। इसलिये मन और बुद्धि की उन्नति या पुष्टि के लिए शुक्रधातु की आवश्यकता अपरिहार्य है।

बुढ़ापा साधना के लिए उपयुक्त समय नहीं है।

कुछ लोग सोचते हैं कि जवानी में रुपया पैसा कमाने के बाद बुढ़ापा में जब समय मिलेगा तो साधना करेंगे, अर्थात् उन लोगों को भय होता है कि जवानी में क्षमता रहने पर रुपया पैसा न कमाने से बृद्धावस्था में कष्ट होगा। अतएव, जवानी में रुपया पैसा कमाया जाय, तो बुढ़ापा में जब मेहनत न करने लायक रहेंगे तब भगवान को पुकारेंगे। जो लोग ऐसा सोचते हैं वे समझते हैं कि साधना में मेहनत नहीं होता है, इसलिए बुढ़ापा को ही साधना के उपयुक्त समझते हैं। जन्म लेने से मृत्यु होगी ही, इसलिए जन्म के बाद से ही मनुष्य मौत की ओर बढ़ता ही जाता है और कब मरेंगे इसका भी ठिकाना नहीं है। अतएव, बुढ़ापा तक बचेंगे या नहीं यह तो निश्चित नहीं है। किन्तु, तो भी असल काम के लिए बुढ़ापा को

ही ठीक मान कर रक्खा जब कि शरीर जीर्ण हो जाता है, मन इसी जन्म के संस्कार में बँध जाता है और कोई भी नया काम करने की इच्छा नहीं होती है। साधारणतः बुढ़ापा में भय के कारण भगवान में भक्ति होती है, क्योंकि वह जानता है कि उसकी मृत्यु का दिन समीप आ रहा है। जीवन में किए हुए कुकर्मों की याद करके वह चिन्तित हो जाता है, इसलिए भगवान को याद करता है कुकर्मों से मुक्ति पाने के लिए। मन इसी जन्म के संस्कारों से बँध जाता है, इसीलिए वह एकाग्र नहीं हो पाता है। अतएव, बुढ़ापा में भगवान को याद करने का कोई मूल्य नहीं है। बुढ़ापा में शरीर जीर्ण और रोगग्रस्त हो जाता मन इसी जन्म के संस्कार से बँध जाता है, इसलिए उस समय मन को एकाग्र करना सम्भव नहीं होता है। मन फँसा रहता है शरीर की जीर्णता की ओर, रोग की ओर, मृत्यु की ओर, और सबसे अधिक जीवन की बीती हुई घटनाओं की ओर, इसलिए मन को किसी तरह एकाग्र करना सम्भव नहीं होता है। इस तरह देखा जाता है कि बुढ़ापा में साधना करना सम्भव नहीं है। कहावत है कि काँच बाँस ही नवता है, पका हुआ बाँस नवाने से टूट जाता है, अर्थात् जो भी करें कम आयु में ही करना उचित है। इसलिए साधना जवानी के प्रारम्भ में ही शुरू करनी चाहिए। हमलोगों

जवानी का प्रारम्भ

का शरीर चालीस वर्ष की आयु से जीर्ण होने

ही साधना का उपयुक्त समय है।

लगता है, इसलिए साधना उससे पहले ही शुरू करनी चाहिए। यह न होने से पके हुए बाँस की तरह पट पट करेगा और अधिक जोर देने से टूट जा सकता है।

साधना के लिये संसार की भोग्य वस्तुओं का जबर्दस्ती त्याग करने की जरूरत नहीं है।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि साधना करने से इस जगत् का भोग करने वाली सभी वस्तुओं को छोड़ देना पड़ेगा और इससे कष्ट होगा। इसी कष्ट के भय के कारण साधना नहीं करना चहते हैं। देखा जाय उनलोगों के इस भय के कारण साधना नहीं करना कितना युक्ति संगत है। पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् में जो कुछ भी भोग की वस्तुएं हैं वे सभी प्रकृति के तमोगुणी प्रभाव से सृष्टि हुई हैं। मनुष्य अविद्यामाया के प्रभाव से उन सबों को सत्य समझ कर पकड़े रहता है और उसको यह अच्छा मालूम होता है। ऐसा नहीं होने से मनुष्य उन सबों को पकड़ कर नहीं रहता। साधना द्वारा अविद्यामाया से क्रमशः छुटकारा मिलता रहेगा और मन सूक्ष्म की ओर जाता रहेगा, उस समय इस जगत् की भोग्य वस्तुएं अच्छी नहीं मालूम होंगी। जगत् की ये सब वस्तुएं अच्छी लगती हैं अविद्यामाया के काम, लोभ और मोह रिपु के कारण। अतः जब यह रिपु सब दूर हटने लगेंगे तो स्थूल पदार्थ मन को और

अच्छा नहीं लगेगा। मन को यह सब अच्छा लगता है, इसीलिए मन इन सबों को छोड़ना नहीं चाहता है या समझता है कि छोड़ने में कष्ट होगा। जब मन को यह सब अच्छा नहीं लगेगा उस समय तो न छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता है। मन आप ही इन सब चीजों से दूर भागने की कोशिश करेगा, इसलिए मन को उस समय कोई कष्ट नहीं होगा। कष्ट कब होता है ? जिस समय मन जो वस्तु चाहता है उस समय अगर वह उस वस्तु को नहीं पाता है तभी उसको कष्ट होता है। जब वह उस वस्तु को नहीं चाहेगा तब अगर उसको नहीं मिलता है, तो उसके कष्ट का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। जैसे, जो मदिरा पीता है वह यदि मदिरा नहीं पाय अथवा जबर्दस्ती उसको मदिरा नहीं पीने दिया जाय, तो उसको कष्ट होगा। किन्तु, जो मदिरा पान नहीं करता है उसको यदि मदिरा नहीं मिलता है, तो क्या उसको कष्ट होगा ? उसके कष्ट का कोई सवाल ही नहीं उठता है, क्योंकि वह तो मदिरा चाहता नहीं है। साधना करने से मन सूक्ष्म की ओर जाने लगता है, इसलिए स्थूल वस्तु तब अच्छी नहीं लगती है। जब स्थूल की उपस्थिति उसको अच्छी नहीं लगती है, तो उससे कष्ट कैसे होगा ? कुछ लोग गलत सोचते हैं कि साधना करने से संसार की भोग्य वस्तुओं से जबर्दस्ती अपने को अलग

साधना द्वारा भोग की प्रवृत्ति आप ही आप लुप्त हो जाती है।

करना पड़ेगा, जिसके कारण कष्ट होगा। किन्तु, जबर्दस्ती करने से क्या मन को वश में किया जा सकता है ? मन को किसी भी वस्तु से जबर्दस्ती हटाने से शरीर अस्वस्थ हो जायगा। इसलिए साधना में जबर्दस्ती नाम की कोई भी वस्तु नहीं है। सद्गुरु द्वारा दी गई पद्धति में इतनी शक्ति है कि वह धीरे-धीरे मन को स्थूल वस्तु से हटा देगा। मन जब स्थूल वस्तु से हट कर सूक्ष्म की ओर जायगा उस समय भोग की वस्तु नहीं पाने से उसको कष्ट नहीं होगा। अतएव, भोग की वस्तुओं से दूर रहने के कारण जो कष्ट होगा उसके भय से साधना नहीं करने के पीछे कोई दृढ़ युक्ति नहीं है। जो ऐसा सोचते हैं वे भूल करते हैं।

साधना से मनुष्य जिन कारणों से डरते हैं और जिसके फलस्वरूप साधना नहीं करना चाहते हैं उन सबों की अच्छी तरह विवेचना करने से देखा जाता है कि सभी भय आधार रहित हैं। अतएव, आधारहीन भय के कारण साधना, जो प्रत्येक मनुष्य का एकमात्र कर्त्तव्य है, नहीं करना क्या अज्ञानता का परिचय नहीं देता है ? इसलिए कहता हूँ कि अकारण भय से भीत न होकर साधना कीजिए और अपने को समझिए कि आप वह विराट् हैं, आप क्षुद्र नहीं हैं।